# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

**वर्ष 6 अंक 3** **जनवरी-मार्च 2009**

*सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति*
लोकेश चन्द्र
यशदेव शल्य
जे.एन.राय
रमेशचन्द्र शाह

*सम्पादक*
बी. बी. कुमार

**आस्था भारती**
**दिल्ली**

**वार्षिक मूल्य :**

| | |
|---|---|
| व्यक्तियों के लिए | 60.00 रुपये |
| संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए | 150.00 रुपये |
| विदेशों में | $ 15 |

*एक प्रति का मूल्य*

| | |
|---|---|
| व्यक्तियों के लिए | 20. 00 रुपये |
| संस्थाओं के लिए | 40.00 रुपये |
| विदेशों में | $ 4 |

*विज्ञापन दरें :*

| | |
|---|---|
| बाहरी कवर | 10,000.00 रुपये |
| अन्दर कवर | 7,500.00 रुपये |
| अन्दर पूरा पृष्ठ | 5,000.00 रुपये |
| अन्दर का आधा पृष्ठ | 3000.00 रुपये |

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
**रजिस्टर्ड कार्यालय :**
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

**कार्य-संचालन कार्यालय :**
12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा
विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।
फोन : 011-22712454
ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

# विषय-क्रम

*सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य* 5

1. लोक सौन्दर्य और लोकोत्तर ऐश्वर्य का संश्लेषोत्कर्ष-अजन्ता
*लोकेश चन्द्र* 9
*हिन्दी रूपांतर : बाबूराम वर्मा*

2. नेपाल में नाटकीय पटाक्षेप : कितने तंत्र :
राजतंत्र, प्रजातंत्र या माओतंत्र
*ए. सी. सिन्हा* 22

3. छुटकारा
*महात्मा गांधी* 37

4. वर्णमाला, भाषा और शिक्षा
*राम मनोहर लोहिया* 44

5. एक पुस्तक के बहाने....
*नरेन्द्र कोहली* 51

6. आधुनिकतावादी भारतीय बौद्धिकों की बौद्धिक
भ्रान्ति की पराकाष्ठा : दर्शन के क्षेत्र में फैला अज्ञान
*रामेश्वर मिश्र पंकज* 76

7. अलबेला फकीर थासाई बुल्लेशाह 96
*महीप सिंह*

8. प्रचार
*शंकर पुणतांबेकर* 102

9. पुस्तक-चर्चा : गहन अध्ययन, चिन्तन एवं मनन पर आधारित विवेचन
*ब्रज बिहारी कुमार* 112

10. हिन्दी भाषा के विकास में मराठी भाषी पत्रकारों का योगदान (विशेष सन्दर्भ स्वातन्त्र्य पूर्वकाल)
*तुकाराम दौड* 113

11. पाठकीय प्रतिक्रिया 118



# सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

## चुनाव, हिन्द स्वराज एवं डॉ. लोहिया

लोक सभा के चुनाव के दिन नजदीक आते जा रहे हैं। हर तरह के जोड़-तोड़, हर तरह के गठजोड़, तिकड़म, अवसरवादिता, सिद्धान्तहीनता तथा जाति-धर्म के नाम पर व्होटों की लामबन्दी के प्रयास यथावत जारी हैं। बाहुबलियों, अपराधियों से किसी राजनीतिक दल को परहेज नहीं। राष्ट्र एवं समाज की केन्द्रीयता का स्थान नेताओं की केन्द्रीयता ने ले लिया है। निर्लज्जता चरम पर है। ऐसे में राजनीति में छोटे मन के लोगों का लगातार बढ़ता वर्चस्व एवं राष्ट्रीय दलों का बिखराव, उनका कमजोर पड़ना, आश्वस्त नहीं करता।

उल्लेख्य है कि यह चुनाव का वर्ष ही नहीं, महात्मा गांधी के हिन्द स्वराज एवं डॉ. राम मनोहर लोहिया के जन्म की शताब्दी का वर्ष भी है। ऐसे में भारतीय राजनीति की विचलन एवं अस्थिरिकरण की पीड़ा के बीच गांधी, हिन्द स्वराज एवं डॉ. लोहिया की याद कुछ राहत दिलाती है तथा एक विचित्र तरह की 'नास्टैल्जिया", गृह-स्मारिता भी लाती है।

अंग्रेजी राज ने हमारे बौद्धिक वर्ग के बीच एक विचित्र तरह की कुंठा, हीनता की ग्रन्थि एवं आत्म-दया का भाव भर दिया था। हमारी गलत समाज दृष्टि, गलत इतिहास बोध; विदेशी औपनिवेशिक व्याख्याओं, मिथकों को सही मानने से उत्पन्न विभ्रम की स्थिति यथावत जारी है। गांधी एवं लोहिया मौलिक चिन्तक थे जो इन दुष्प्रभावों से मुक्त थे। दोनों की भारतीय राष्ट्र, इसके लोग, जमीन, भाषा एवं संस्कृति से गहरा लगाव था। दोनों की भारतीयता एवं मानवीयता के प्रति समान प्रतिबद्धता थी। उनकी भारतीयता एवं विश्व नागरिकता में कोई द्वैध नहीं था।

जैसा कि धर्मपाल ने लिखा हैः "महात्मा गांधी में भी ऐसा हीनता भाव और ग्लानि भाव लेशमात्र नहीं था और उनके नेतृत्व में पूरा देश एक होकर उमड़ पडा। देश के बारे में महात्मा गांधी का विचार नवप्रबुद्ध लोगों से नितान्त भिन्न था। वे मानते थे कि इस देश के वृहत् समाज में भरपूर गुण हैं, और कुप्रवृत्तियों तथा विकृतियों के होते हुए भी आन्तरिक सामर्थ्य है। यदि इन्हें अपनी श्रेयस्कर प्रवृत्तियों को संगठित करने और अभिव्यक्त करने के वैसे ही पर्याप्त साधन स्रोत फिर दे दिये जाएँ तो ये लोग उसी तरह एक श्रेष्ठ सभ्यता पुनः रचने लगेंगे, जैसे कि हजारों साल से रचते रहे हैं। ... यहाँ महत्वपूर्ण मात्र इतना है कि गाँधीजी को भारतीय जन एवं भारतीय धन के सामर्थ्य पर पूरा भरोसा था तथा उसी दृष्टि से उन्होंने अपने अद्वितीय संगठन और सामर्थ्य के बल पर देशव्यापी विराट संगठन और आन्दोलन खड़ा किया था।" हिन्द स्वराज का प्रकाशन आज से सौ वर्ष पूर्व 1909 में हुआ था। यह छोटी

सी पुस्तक गांधीजी द्वारा आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की समीक्षा है। महात्मा गांधी के सभी मौलिक विचारों के बीज इस पुस्तक में समाहित हैं। विचार के स्तर पर एवं सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन के स्तर पर इस पुस्तक का महत्त्व यथावत है।

लोहिया की बौद्धिक तेजस्विता, वैचारिक गहनता, निर्भीकता तथा ईमानदारी सर्वमान्य थी। उनके विचारों में जड़ता नहीं थी। नेहरु ही की तरह, वे भी मार्क्सवाद या पूँजीवाद को तृतीय विश्व के लिए एकमात्र विकल्प नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि न्यायसंगत व्यवस्था/समाज के निर्माण के लिए उचितसाधन अपनाये जाएँ। लोहिया गरीबों की लड़ाई समान रूप से सड़क एवं संसद में लड़े। वे वर्लिन से पी.एच. डी (1932 में) थे; अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांसीसी, हिन्दी एवं बंगला भाषाएँ धारा-प्रवाह बोलते थे।

लोहिया लगातार देश विदेश का परिभ्रमण करते रहे; वे देश के हर छोटे बड़े कोने में गये। अद्भूत सूझ-बूझ से क्षेत्रों, जातियों-जनजातियों, भाषाओं, लिपियों, लोक मान्यताओं, शिल्पों, संस्कृति एवं धर्म के विभिन्न पक्षों पर उनकी कलम चलती रही। उनकी निर्भीक मौलिक दृष्टि सदा सुखद आश्चर्य पैदा करती है, उदात्त बनाती है। लोहिया में अपनी बात कहने का साहस था। भारतीय बम एवं समान नागरिक संहिता की बात उन्होंने बिना लाग- लपेट के कही। गांधीजी की ही तरह लोहिया ने इतने अधिक विषयों पर इतनी अधिक मौलिक बातें लिखी हैं कि उनका उल्लेख इस छोटी सी टिप्पणी में देना संभव नहीं। फिर भी उनके विचारों की उदात्ता, गहराई, ईमानदारी, परख, आदि की समझ के लिए मैं कुछ उद्धरण देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

राम, कृष्ण एवं शिव पर वे लिखते हैंः

"राम, कृष्ण और शिव भारत में पूर्णता के तीन महान स्वप्न हैं। सबका रास्ता अलग-अलग है। राम की पूर्णता मर्यादित व्यक्तित्व में है, कृष्ण की उन्मुक्त या सम्पूर्ण व्यक्तित्व में और शिव की असीमित व्यक्तित्व में, लेकिन हर एक पूर्ण है।"

वे फिर लिखते हैंः

"मैं कोई इलाज सुझाने की धृष्टता नहीं करूँगा और केवल इतना कहूँगाः ए भारतमाता, हमें शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो तथा राम का कर्म और वचन दो। हमें असीम मस्तिष्क और उन्मुक्त हृदय के साथ-साथ जीवन की मर्यादा से रचो।"

हिमालय एवं तिब्बत उनकी सोच उनकी चिन्ताओं का लगातार विषय बना रहा। उस पर वे लगातार लिखते रहे। उन्होंने लिखा हैः

"हिमालय कौन? अगर हमारे दिमाग में वह फितूर बना रह गया तिब्बत वाला, अंग्रेजी साम्राज्यशाही के दस्तावेजों वाला, मंगोल वाला या यह कि एक उधर वाली ताकत के साथ दोस्ती रखने के लिए इन सब सच्चे मामलों के ऊपर पर्दा डाल देना है, तब हम हिमालय पर कुछ भी सोच-समझ नहीं पायेंगे।"



इसी प्रकार तीर्थ-स्थानों पर उनके विचार देखेः

"मैं रामेश्वरम की ओर ऐसे दौड़ा जैसे गाय की तरफ बछड़ा। कुछ तो इसलिए कि तीर्थ-केन्द्रों में मुझे कौतुक मिलने लगा है। लेकिन ज्यादा इसलिए कि राष्ट्रीयता गलती करने पर उतारू हो जाती है, फाँक डालने और टूट पैदा करने, टूट और जहर बोने और जहाँ एक राष्ट्र था वहाँ दो राष्ट्र बनाने के लिए ओछे और स्वार्थी लोगों की मदद करने में उसकी अद्भुत क्षमता पर मैं आश्चर्य चकित हूँ। तुलनात्मक दृष्टि से हिन्दुस्तान के तीर्थ-केन्द्र बड़ी सान्त्वना देते हैं। किसी भी महान् मन्दिर के एक कोने में आप खड़े हो जाइए,एकाध घण्टे में ही, आप सारे हिन्दुस्तान को वहाँ पर चलते-फिरते देख सकते हैं। हम एक हैं, इतने एक हैं कि उस समय लगता है कि किसी में इतनी शक्ति नहीं है कि वह हमें तोड़ कर दो बना सके।"

भारतीय इतिहास लेखन की विडम्बना-पूर्ण स्थिति की समझ जितनी लोहिया को थी उतनी किसी की नहीं। वे लिखते हैंः

"इतिहास लेखन में भारत का दुर्भाग्य असाधारण रहा है। प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन बहुत ही कम था, और जो कुछ था, वह भी मुख्य-रूप में काव्य या दर्शन के रूप में। पिछले एक हजार सालों में भारत का इतिहास-लेखन एक विचित्र प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय इतिहासकारों के हाथ में रहा है। फरिश्ता से विन्सेन्ट स्मिथ तक इतिहास के इन अन्तर्राष्ट्रीय क्रीड़ा-छोकरों की एक लम्बी वंशावली है। उन्होंने तथ्यों को चुना। इसमें उनका एक लक्ष्य था। उनका लक्ष्य था देश में विदेशी शासन को मजबूत करना। जिसका एक अंश, विद्वान अंश, वे स्वयं भी थे।"

इस बात को आगे बढ़ाते हुए वे लिखते हैंः

"अगर अमरीका पर कोई विदेशी अधिकार कर ले, तो न्यूयार्क और शिकागो के ठग और पिंडारी और आत्महत्याएँ तो नहीं, लेकिन हत्याओं के रूप में 'सती' की घटनाओं को इतिहास का सबक बनाया जा सकता है। कुछ समय बाद देशी लोग इस सबक पर यकीन भी करने लगेंगे। हम इससे इन्कार नहीं करते कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के पहले भारत में ठग थे और सती-प्रथा भी थी। लेकिन अच्छा हो कि देश के सम्पूर्ण जीवन में इनका जो स्थान था, इतिहासकार सचाई के साथ उसका वर्णन करें। अगर किसी एक वर्ष या एक दशक में देश की कुल जनसंख्या की तुलना में ठगी आदि की बड़ी-बड़ी घटनाओं और 'सती' की कुल संख्या के आँकड़े उपलब्ध हों, तो उनको इतिहास की किसी पुस्तक में बताना चाहिए, तब हम जानसकेंगे कि ये घटनाएँ कहाँ तक महत्त्वपूर्ण थीं और कहाँ तक गौण। अभी तक जो होता रहा है वह तो ऐसा ही है जैसे पन्द्रहवीं शताब्दी के लन्दन का इतालवी राजदूत द्वारा किया गया वर्णन इंगलिस्तान का इतिहास मान लिया जाये।"

इतिहास लेखन की अलीगढ़ी धारा एवं मार्क्सवादी सिद्धान्तों के गलत आरोपण, इतिहास लेखन के क्षेत्र में सुनियोजित झूठ को समझने के लिए एतद् विषयक लोहिया

के विचारों को जानना आवश्यक है। उन्होंने लिखा हैः

"एक उप-धारा भी है, जो अलीगढ़ के साथ जोड़ी जाती है। ये प्रगतिशील होने का दावा करते हैं। बाँझ या छिछले मार्क्सवाद के अनुसार इतिहास में निरन्तर प्रगति होती है। इतिहास की यह धारणा उनकी विकृत आत्माओं को शान्ति प्रदान करती है। वे हर मुस्लिम आक्रमण का औचित्य खोजने में लगे रहते हैं, चाहे उसके परिणाम-स्वरूप मुगल मुसलमान द्वारा अफगान मुसलमानों की हत्या हुई हो, और हिन्दू मुसलमानों का नजदीक आना रुका हो या पिछड़ गया हो। कौन नहीं जानता कि अफगान हुकूमत देशी हो चुकी थी, और हिन्दु-मुसलमान भारतमाता की दो आँखों जैसे बनने लगे थे, जब मुगल आक्रमण ने उन्हें फिरअलग कर दिया। बाद में मुगलों ने खुद हिन्दू-मुसलमानों को नजदीक लाने की कोशिश की, लेकिन तब तकवे शक्ति-हीन हो गए थे।"

"मार्क्सवाद सहित, भारत में बाहर से लाए गए हर सिद्धान्त का एक दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह है कि वह निष्प्राण कर दिया जाता है। इतिहास-लेखन बाँझ और नीरस बना रहता है। वह सीधी, या शायद घुमावदार प्रगति की एक परीकथा बन जाता है, थोड़ी-थोड़ी प्रगति, लेकिन प्रगति ही। एक ही कसौटी पर यह परीकथा धुएँ में उड़ जाती है, यह प्रगति अगले आक्रमण को क्यों रोक नहीं पाती?"

यह इस देश के लिए कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है कि गांधी एवं लोहिया, दोनों ही उस समय इस देश में नहीं रहे, जब उनकी सर्वाधिक आवश्यकता थी। गांधी जीवित होते तो आजाद भारत की राजनीति इतनी संवेदनहीन नहीं हुई होती और न स्वार्थी तत्त्वों का सिद्धान्तहीन वर्चस्व इतना व्यापक होता। लोहिया का गतिशील नेतृत्व कांग्रेस-विरोध की गठजोड़ की राजनीति को सिद्धान्तहीनता एवं अवसरवादिता की इस सीमा तक निर्विरोध नहीं जाने देता और न पिछड़ों-दलितों के मालदार तबके को उन वर्गों के नाम पर असीमित सुविधा भोगने को आँख मूँदकर बर्दास्त करता। दुर्भाग्य है कि गांधी के शिष्यों ने या तो उन्हें पूरी तरह नकार दिया या उनके विचारों का प्रस्तरीकरण (विपसप्रंजपवद ) कर दिया। लोहिया के शिष्य उनके विचारों/कार्यक्रमों को असंगत विकृत सीमाओं तक ले गये। समाज के वंचितों का सशक्तिकरण न कराकर वे सफलतापूर्वक अपना, अपने परिवार एवं अपनी जाति के सशक्तिकरण की प्रक्रिया में लगे रहे।

**ब्रज बिहारी कुमार**



# लोक सौन्दर्य और लोकोत्तर ऐश्वर्य का संश्लेषोत्कर्ष-अजन्ता

**लोकेशचन्द्र***

**हिन्दी रूपांतर : बाबूराम वर्मा****

मन की चिन्तनपरक कल्पनाओं का आवास है अजन्ता, शताब्दियों में विस्तीर्ण हमारी अनन्तता की चमक, हमारी आन्तरिक चेतना के सूत्रों को उधेड़ते-बुनते हुए रूपों का वात्याचक्र, पारमिताओं को जाग्रत करने वाला नयन विस्तार है अजन्ता और जैसे-जैसे हम इस जगत को अपने नेत्रों में पुनरपि बसाते जाते हैं ये गुहाएँ हमें एक अद्‌भुत प्रशान्तता की धड़कनों में पहुँचा देती हैं। भावनाओं और जीवन की जगमगाती चिनगारियों में ध्यान की प्रतिध्वनियों का आरेखण करती हुई चितवनों के संसार की वास्तविकता का रूपायन करती हुई नौ शताब्दियां हैं अजन्ता की ये गुहाएँ जहाँ संगीत स्वप्नों में खोया है और काव्य चित्रांकन में लीन। चित्रण भी यहाँ रहस्यमयी लय की खोज ही है। संस्कृत की उक्ति है "न अदेवो देवं अर्चयेत्" अर्थात् चित्र आंकना देवत्व का आवाहन है। पृथिवी और अन्तरिक्ष की अनन्तता में नदी और पर्वत के हृदय में सचेत चित्रकर्म का एक चरण यदि गुहा के अन्दर है तो दूसरा चरण मनोदर्शन द्वारा विश्व को रूपायित करने में लगे स्वप्नों में स्थित है। वर्ण की ये धड़कनें तूलिका प्रयोग अथवा जैसे हृदयसूत्र कहता है "शून्यता इव रूपम्" हैं। भारतीय अध्यात्म में मानव सारतः निरन्तर देवत्व की ओर गतिशील यात्री है। मानव किसी एक जगह टिका हुआ स्थितिशील पदार्थ नहीं अपितु गतिशील प्रतिक्षण निर्मित हो रहा तत्व है, जीते हुए उसे पल्लवित होते जाना है, सजीव रहते ही उसे इच्छापूर्वक मार्ग तय करना है। उदात्त मूल्य सदा बने रहें, अधिकाधिक बढ़ते जाएँ उनके विस्तार के लिए प्रयास करता है, ऊर्जा को झकझोरता है, मन को वह स्थिर बनाता है (दीघनिकाय 21)। मन की उन गतियों की ही जाज्वल्यमान अभिव्यक्ति अथवा पालि ग्रन्थों का 'भिव्योभाव' ही अजन्ता है। तथागत की भव और सौन्दर्य दोनों की विषयगत शिक्षाओं का प्राण अजन्ता है।

---

* डॉ. लोकेशचन्द्र, प्रकाण्ड विद्वान, पूर्व सांसद (राज्य सभा)

** बाबूराम वर्मा, 67 बल्लूपुरा, देहरादून।

अजन्ता भिक्षुओं का आवास था किन्तु चट्टानों को काट-काटकर बनाए गए इन मन्दिरों की दीवारों से नरनारियों के शरीर-सौन्दर्य, पशुओं, पक्षियों और पुष्पों की सजीवता, प्रांगणों और उद्यानों, वनों और समूचे आकाश में विश्वव्यापी प्रकाश में से आनन्द चतुर्दिक प्रवाहित हो रहा प्रतीत होता है। भिक्षुओं पर ध्यान देने के साथ-साथ महायान में उपासकों को उनके बराबर का ही स्थान दिया गया है। कमलसूत्र में भिक्षुओं, भिक्षुणियों, उपासकों और उपासिकाओं को मिलाते हुए ही संघ बनता कहा गया है। विमलकीर्ति सूत्र में विमलकीर्ति वैशाली का धनी व्यपारी है जिसकी पत्नी है, परिवार है, व्यापार में लगा है और कभी-कभार धर्म प्रचारार्थ वह नगर के विलास-भवनों में भी जाया करता है। सूत्र में बताया गया है कि एक बार वह बुद्ध के प्रधान शिष्यों के साथ विवाद करने में उलझ गया और अपने तर्कों और चातुर्य से उन्हें विवाद में हरा दिया। अजन्ता की गुहाएँ प्रधानतया उसके महायान सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं और इस कथन को निरूपित करती हैं कि सभी प्राणी संभावी बुद्ध होते हैं। शाक्यमुनि ने अपना अन्तिम चातुर्मास वैशाली नगर से बाहर स्थित वेणुवन में बिताया। वर्षाकाल समाप्त हो जाने पर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करते हुए उन्होंने कहा, "यह दुनिया सुन्दर है, इसमें रहना आनन्ददायक है"। अजन्ता के भित्तिचित्र पीड़ा और आँसुओं सहित जीवन के सम्पूर्ण आनन्द में छिपी ऐसी आध्यात्मिक महानता को परिवर्तित होती घटनाओं द्वारा बताते हैं जिनकी अन्तिम परिणति निर्वाण प्राप्त करने के उदात्त लक्ष्य में होती है। दिखाई पड़ने वाली घटना को अर्थ और गहराई बुद्ध और बोधिसत्वों के जीवन तथा अवदानों के वर्णनों से प्राप्त होती है। प्रो. डीटेर श्लिंगलोफ्फ के अध्ययनों ने प्रमाणित किया है कि इन भित्तिचित्रों की प्रेरणा महायान ग्रन्थ हैं। पालि जातकों की भूमिका इनमें गौण है। ये चित्र सबसे पहले बनी गुहाओं ix और x में बनाए हुए हैं जिन्हें दूसरी शती ई.पू. में निर्मित हुआ माना जाता है।

गुहाएं मानव का आदिमतरीन आवास रही हैं। रहने के लिए उनकी आवश्यकता समाप्त हो जाने के काफी समय उपरान्त इन गुहाओं ने मानवों को अपनी गहराइयों की तरफ खींचा और उसकी आत्मा और आंखों दोनों को उत्तेजित किया। कितना गरिमामय था वह स्वप्न इन गुहाओं की शून्यता और रूपम् में जिन्हें देवताओं ने अपना निवास बनाया, पाषाणों में वे न्याय, मानव विचारों और आदर्शों के रहस्यमय उद्यानों में उठने वाली ऊर्मियों की प्रतीकित स्पर्शरेखाओं में होने का : *धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्* हैं। गुहा क्या है? प्रकाशमान होने का इस संसार से परे निकल पारगामिता प्राप्त करने, प्रकाश बनने का गर्भाशय ही है। संस्कृत शब्द *गुहा* मूलधातु, गुह अर्थात् छिपाना, गुप्त रखना, गुह्य, छिपा हुआ, गुप्त, रहस्यमय से निष्पन्न है। ऋग्वेद 10, 45, 2 में गुहा (लघुकरण-कारक रूप) का अर्थ गेहाइम (geheim), घर (पीटर्सबर्ग वोर्टरबुख) विद्मा ते नामे परमं गुहा यत् दिया गया है। अथर्ववेद 11, 5, 10 में गुहा



निधि निहितौ ब्राहमणस्य आया है जिसका अर्थ है कि ब्रह्म की पावन गाथाओं की निधियाँ गुहा में छिपी हुई हैं। शतपथ ब्राह्मण 11, 2, 6, 5 गुहा का मिलान हृदय से करता है "तस्मात् इदं गुहेव हृदयम्"। श्वेताश्वतर उपनिषद् 3, 20 में महत और अणु आत्मा गुहा अथवा मनुष्य के अन्दर गहराई में निवास करती है (अणोरणीयान महतो महीयान आत्मा गुहायाम्)। गुहा में जीवात्मा को वह गुप्त तत्व प्राप्त होता है जो गहरे ध्यान में होने वाले स्वप्न में मुस्कराता है। गुहा इसलिए कहा गया क्योंकि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की विभिन्न श्रेणियाँ उसी में छिपी हुई हैं अथवा आत्मा का गुप्त निवास उसी में है (गूढ़ा ज्ञातृ-ज्ञान, ज्ञेय पदार्थ : अस्यं गुहाते स्यं आत्मा इति वा, वाचस्पत्य कोश)। भागवत पुराण 2, 9, 24 का कथन है परम आत्मा सभी आत्माओं का अधिपति (भगवान सर्वभूतानां अध्यक्षो स्थितो गुहां) ब्रह्म गुहा में निवास करता है जो सर्वोच्च स्थान है (ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, इंडिश्शे स्टुडीन 2. 217)। गुहाराज वराहमिहिर संहिता 56, 18, 25 में सर्वोत्तम मन्दिर रूप है। गुहा व्यक्ति की दैवी संरक्षिका है। इसीलिए महाव्युत्पत्ति और सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रों में बोधिसत्व के लिए गुहागुप्त नाम आया है। देवी-देवताओं को गुहा के अन्दर स्तूप में स्थापित किया जाता है। साधनमाला 2. 394 की साधना 191 में उष्णीषविजय देवी चैत्य गुहा गर्भ में स्थित की गई है। गुहा चिन्तन से परे का एकान्त दर्शन है, वहां समय अनन्त में जाकर विलीन हो जाता है। आदि मौन गहरा, गाढ़ एकान्तिक और अमापनीयमें ध्यान करने के लिए कितने ही पाठ रहते हैं। उसके अन्दर की केन्द्रिकता से हुआ तादात्म्य हमें क्षितिज से आगे रहने वाले प्रकाश तक ले जाता है। बिना भित्तिचित्रों या उभरवां चित्रों वाली छोटी गुहाएं कठोर ध्यान करने के काम आती थीं। तिब्बत में मठों के निकट ध्यान के आश्रय स्वरूप बनाई हुई गुहाएं होती हैं। इसके विपरीत संपूर्ण मूर्तियों से युक्त उभरवां चित्रों वाली चट्टानों में काटी हुई गुहाएं उपासकों और भिक्षुओं, दोनों के लिए आराधना करने के प्रार्थनालयों का काम देती थीं।

गुहा शरण्यों या मठों में चित्रण या मूर्तियाँ भक्तों को आकर्षित करने के लिए बनाई जाती थीं। मूल सर्वास्तिवाद विनय विभंग का अनुवाद इत्सिङ् ने 17 नवम्बर 703 ईस्वी को पूरा किया। उसमें निर्धारित किया गया है कि मठ के अन्दर सजावट करने के लिए जातकों की घटनाओं की चित्रकारी की जानी चाहिए। यह भी वर्णन किया गया है कि अनाथपिण्डक जेतवन विहार की दीवारों को जिसे वह भगवान बुद्ध को समर्पित करना चाहता था, अलंकृत कराना चाहता था। भिक्षुओं को पता नहीं था कि अलंकरण किस तरह से किया जाए। बुद्ध ने बताया कि मात्र एक ही वर्ण या रंग उपयोग नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि चारों तरह के रंग उपयोग में लाने चाहिएँ। जब अनाथपिण्डक ने चित्रकारों को काम पर नियुक्त कर दिया तो उन्होंने पूछा "हम किस के चित्र बनाएँ?" बुद्ध ने बताया "प्रवेशद्वार पर दण्डधारी यक्ष का चित्र बरसाती

में महाचमत्कार और पांच गतियों वाला भवचक्र तथा मठ के अन्दर जातकमाला और ...........” का चित्रण किया जाना चाहिए। जब चित्रकार लोग काम में लगे हुए थे तो भिक्षु लोग भित्तिचित्रों के निकट ही नहाते-धोते थे जिससे पानी के छींटे उन चित्रों पर पड़कर उन्हें विकृत कर डालते थे। उससे उन भिक्षुओं को बुद्ध की फटकार सुननी पड़ी। अन्ततः चित्र बनकर तैयार हो गए लोग-बाग उन्हें देखने आए और उनकी प्रशंसा की जिसके फलस्वरूप ब्राह्मणों में से भी कितने ही लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। इस वाक्यांश से ठीक-ठाक पता चल जाता है कि मठों की दीवारों पर किन-किन विषयों के चित्र बनाए जाने चाहिए थे। अजन्ता की गुहाओं में कितने ही चित्र विनय के नियमों से प्रेरणा ग्रहण करके बनाए गए हैं उदाहरण स्वरूप भवचक्र से प्रेरित चित्र xvii वीं गुहा के बरामदे में और जातक चित्र जिन्हें आर्यशूर रचित जातकमाला से प्रेरणा लेकर बनाया गया है।

भवचक्र मूलसर्वास्तिवाद विनय से लिया गया है। इसमें मानव अनुभव को न्यूनतम से वांछनीय अधिकतम तक, नरक से स्वर्ग तक की श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है। छह योनियाँ हैं, 1. निरय / नरक, 2. तिर्यक-योनि पशु, 3. प्रेत-लीक, अपूर्ण इच्छाओं या वासनाओं का प्रतीक, 4. असुर / क्रोध, 5. मनुष्य लोक / मानव, 6. देवलोक देवता अथवा इन्द्रियगत संसार से उच्चतर श्रेणी के व्यक्ति जो मानव खुशियों अर्थात् आनन्द का और अधिक परिमाण में उपभोग करते हैं। स्वर्ग और नरक हैं कहाँ?वे हमारे ही मन और शरीर में हैं। नरक अत्यधिक कष्ट झेलने की स्थिति है, *पशुता* बलवान से भय करने तथा कमजोरों पर धौल-धप्पा जमाने की दशा है, *प्रेत* ऐसी स्थिति को कहा गया है जिसमें दूर भागती जा रही ऐसी इच्छाओं का साम्राज्य रहता है जिन्हें कभी पूरा ही नहीं किया जा सकता (मृग मरीचिका), *असुर* असंयत क्रोध और अधिकार भोग है। ये चार दुष्ट श्रेणियाँ (दुर्गतियाँ) हैं ‘जिनकी विशेषता विनाशकारी नकारात्मकता होती है। मानवता आनन्दमयी स्थिति है जिसकी विशिष्टता तर्कसंगति और संतुलित निर्णय होते हैं। देव या देवत्व परमानन्द की स्थिति है जिसमें इच्छाएँ परिपूर्ण या पीड़ाएँ समाप्त हो जाती हैं। भवचक्र की परिधि में बारह निदान होते हैं। जीवन की पहेली और अस्तित्व की अनित्यता समझने के लिए

*यो हि अस्मिन धर्म विनये अपरमत्तास चरिष्यति।*
*प्रहाय जाति संसारं दुखस्यांतम् करिष्यति॥*

XVII वीं गुहा को श्लिंगलोफ्फ ने पाँचवीं शती का बताया है और भित्तिचित्रों की उसके द्वारा की गई पहचान निश्चयात्मक है क्योंकि वह सही-सही ग्रन्थों से मिल जाती है। इस गुहा में चित्रित किए गए अवदान इस प्रकार हैं 1. सिंह, 2. अवलोकितेश्वर जो आठ संकटों से रक्षा करता है, 3. भवचक्र, 4. शुद्धोदन, 5. उदायि, 6. धनपाल, 7. राहुल, 8. सुमति, 9. महासमाज, 10. इन्द्र ब्राह्मण, 11. शिवि, 12.



रुरु, 13. ऋक्ष, 14. मृग, 15. षडदन्त, 16. महाकपि, 17. हस्तिन, 18. बोधि, 19. सर्वदद, 20. हंस, 21. विश्वन्तर, 22. इन्द्र, 23. वानर, 24. सुतसोम, 25. देवावतार, 26. राहुल, 27. महाप्रातिहार्य, 28. शरभ, 29. शश, 30. मातृ पोषक, 31. मत्स्य, 32. श्याम, 33. प्रभास, 34. महिष, 35. सिंहल।

गुहा में उनकी स्थिति कैसे रखी गई है, नीचे चित्र में दिखाया गया है

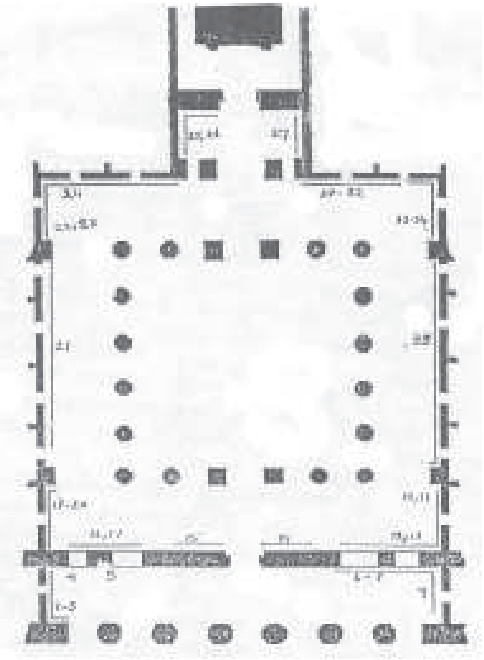

सबसे अधिक चित्र मूल सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के विनय के आधार से लिए गए हैं। (1, 3-7, 13, 20, 21, 25, 26, 32), तदुपरान्त ग्यारह दृश्य आर्यशूर रचित जातक माला से लिए हुए हैं (11, 12, 16-18, 22, 23, 28, 29, 31, 34), बाकी के अवदान चित्र दिव्यावदान (18, 10, 27, 35), कल्पना मण्डीतिका (14, 33), बोधिसत्व अवदान कल्पलता (19), हरिभट्ट रचित जातकमाला (15) और दममूक सूत्र (24) पर आधारित हैं। अभिनिष्क्रमण सूत्र (30) अथवा बुद्ध की जीवनकथा से एक अवदान लिया गया है। महासमाज सूत्र का सम्बन्ध चित्र सं.9 से तथा अष्टभयत्राण अवलोकितेश्वर (2) की तुलना सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र के संगत अध्याय के साथ की जा सकती है। ये अवदान विनय में आए वर्णनों को चित्रित करने तथा जीवन में छह पारमिताओं के उदाहरण बताने के लिए बनाए गए थे।

हमारे पास XVII वीं गुहा में बनाए गए विस्तृत जातक या अवदान इस बात

पर जोर देने के लिए उपलब्ध हैं कि प्रो. डीटेर श्लिंगलोफ्फ ने पहले की गई पहचानों को सुधारकर सूक्ष्म बना तथा नये खोजे गए चित्र खण्डों से सम्बन्धित कर अथवा मध्य एशिया या गिलगित में संस्कृत में मिले पूर्णपाठों से मिला नई पहचान जोड़ कर तथा विलुप्त हो चुके संस्कृत ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवादों को उपयोग में लाकर वाङ्मय की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। प्रो. श्लिंगलोफ्फ पर पहुँचकर इन भित्तिचित्रों की पहचान करने वाली लम्बी परम्परा पूरी हो जाती है और यह अत्यधिक आवश्यक हो जाता है कि भविष्य की विद्वत्मण्डली इनके परिश्रम और अन्तर्ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ उठाए।

अजन्ता की दीवारों पर प्रदर्शित अवदान सामाजिक प्रतीकवाद जैसे हैं जिन्हें मानव रूप दे दिया गया है जिसमें संभावनापूर्ण नैतिक गहराई पाई जाती है जो किसी निर्वैयक्तिक सृष्टिविज्ञान में हो ही नहीं सकती। ये दृष्टांत कथाएँ जीवन या प्रकृति में घट सकने वाली घटनाओं के ऐसे विवरण हैं जिनसे कोई नैतिक या आध्यात्मिक सत्य निकलता है। यदि घटना संभव है अथवा वह कभी घटी होगी तो कथा को दृष्टान्त-कथा कहेंगे। यदि कार्य कल्पित किया हुआ है और उसके अलावा अवास्तविक भी है (पशुओं का वार्तालाप करना आदि) तो उसे कथा-उपदेश कहेंगे। उपदेश-कथा के चरित पशु अथवा बेजान वस्तुएँ होती हैं जो ऐसे व्यवहार करती हैं मानो वे मनुष्य हों। अजन्ता में दृष्टांत-कथा और उपदेश-कथा दोनों का उपयोग पाठ पढ़ाने या सिखाने अथवा उपदेश देने के लिए किया गया है। अरस्तू ने भी उदाहरण, दृष्टांत-कथा और उपदेश-कथा का विवेचन उपदेश देने के उपायों (*कोइनाइ पिस्तेइस*) के अन्तर्गत किया है। सशरीर आकृति या चित्र उपदेशों के मूर्त रूप होते हैं और हम जानते ही हैं कि नैतिक पाठ पढ़ाने के लिए सचित्र बना दी जाने पर कथा की शक्ति में सदा वृद्धि हो जाती है। विनय के कुछ वर्णन जैसे देवदत्त द्वारा संघ में फूट डालने वाला संघभेदवस्तु से लिया गया है। ऋक्ष और निर्धन व्यक्ति की कथा का सम्बन्ध देवदत्त के पूर्व जीवन से है (ग्नोली 2.106)। इसी प्रकार विश्वन्तर कथा में देवदत्त के विश्वासघात पर प्रकाश डाला गया है (ग्नोली 2.133)। अजातशत्रु के अति भयंकर हाथी धनपाल का सम्बन्ध देवदत्त के इस हाथी द्वारा बुद्ध को मरवाने के प्रयत्न से है परन्तु हाथी विनयपूर्वक बुद्ध के पीछे-पीछे चलने लगा और अन्ततः शोक सन्तप्त हो मर गया और चार महान राजाओं के स्वर्ग में जाकर उसका पुनर्जन्म हुआ (ग्नोली 2.186-191)। हंसाधिपति की कहानी का सम्बन्ध भी आनन्द के पूर्व जन्म से है (ग्नोली 2. 192-194)। कुमारजीव अपने महाप्रज्ञा पारमितोपदेश के अन्त में कहता है कि जातकों और अवदानों में मथुरा के मूलसर्वास्तिवादियों का विनय (पिटक) भरा पड़ा था जबकि कश्मीर का विनय दोनों का परित्याग करता था और उसने केवल मुख्य-मुख्य अंश ही उनके स्वीकार किए थे और उसके दस खण्ड बनाए थे। मूलसर्वास्तिवाद का अधिक प्रचार अपने साहित्यिक गुणों, सरल और स्पष्ट शैली में लिखी गई कथाओं के कारण



था जिनसे अनुशासनिक कर्तव्यों के शुष्क परिगणन से छुटकारा मिल जाता था। दिव्यावदान, अवदान शतक और अन्य ऐसे ग्रन्थ सभी विनय से प्रेरित हैं जिसे सिल्वां लेवी संस्कृत साहित्य का स्रोतग्रंथ (शेफ दु. व्र.) मानते हैं जो एक के बाद दूसरा करके निर्मित हुई कथाओं से भरा हुआ है जो सुन्दर और रोचक दोनों ही हैं। वह इन्हें भिक्षुओं के लिए एक प्रकार की बृहत्कथा बताता है (यून स्पीस द बृहत्कथा अ लूसाज द म्वान, न.ए. 1932 : 23)। यह व्याख्या संकेत करती है कि मठों के चतुर्दिक विस्तार में ये सुन्दर चित्र विनय से हो प्रोद्भूत हुए थे जो जीवन के उदार प्रतीकवाद में अपना अर्थ खोजना चाहता था। दृश्यमान प्रतीकों में भिक्षुओं के अनुशासन की शक्तिशाली अभिव्यक्ति श्वास-प्रश्वास ले रही थी।

अजन्ता के उनतीस गुहा शरण्य बौद्ध भिक्षु परिसर हैं; कुछ गुहाओं में चित्रों के अवशेष बचे हुए हैं जो अति सम्पन्न हैं जिनमें शास्त्रीय शैली से चित्र समापन किया गया है। X वीं गुहा पूर्वतम यहाँ तक कि दूसरी शती ई.पू. तक की हो सकती है। इसके चित्र एक लम्बी पट्टी के रूप में बनाए हुए हैं और महाभारत में बताए हुए कत्थकों या कहानी सुनाने वालों की स्मृति दिलाते हैं। बाद की शताब्दियों में चित्र दीवार की सतह पर हर जगह बनाए हुए हैं जिनमें जीवन और प्रकृति भरे पड़े हैं। गुहा में जहाँ भी जगह दिखाई पड़ी उसे अलंकृत कर दिया गया है। तेरह गुहाओं में चित्र अवशेष हैं और उनमें से छह गुहाओं (गुहा I, II, IX, X, XIV और XVII) में चित्र बाहुल्य है जिनके विषय पहचाने जा सकते हैं। सजीव प्रतिरूपों की प्रवहमान और प्रगाढ़ जीवन्तता और हार्दिक निष्ठा, दूतावास वाले दृश्य के पारसीक कटे सँवरे समूर वाली नुकीली टोपियों और कशीदा किए विदेशियों के चोगे, धारीदार मोजे और खोपड़ीनुमा टोपी पहने दढ़ियल की आकृति, राजकुमारियों, राजमहिषियों और उनकी दासियों की ठेठ भारतीय आकृतियाँये सभी रूपायन कला के स्वच्छ चित्रों की सम्पूर्ण शृंखला हैं। गुहा XXII में ध्यानी बुद्ध के नीचे अभिलेख में बताया गया है कि "वह जो जिन चित्रों की रचना कराते हैं उन्हें सुदर्शन, सौभाग्य और सद्गुणों की प्राप्ति होती है, जाज्वल्यमान दीप्ति और अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है।" गुहा II में दिए हुए एक अन्य अभिलेख से भी इन गुहाओं के सौन्दर्य और गांभीर्य के बारे में इतना ही सुस्पष्ट है "क्योंकि जहाँ अत्युत्तम गुणों से सुशोभित पवित्र जन अपना निवास बनाते हैं, ऐसी जगहें बहुत अधिक पावन और सुन्दर तीर्थयात्राओं के पवित्र स्थल और आश्रम बन जाया करती हैं।" मेहराबों, चक्रनाभि और स्तम्भयुक्त मार्गवाले चैत्यगृह और भीतर की तरफ भिक्षुओं के रहने के लिए बनी कोठरियों वाले बड़े-बड़े विहार यहाँ मिलने वाले दो प्रमुख वास्तुरूप हैं। विहारों की जगमगाती चित्रकारी ने जो उदारतापूर्वक धन दिए जाने से ही वहाँ कराई जा सकी आम लोगों को आश्चर्य और निष्ठा से प्रेरित किया। बुद्ध और बोधिसत्वों के चित्रों का रेखांकन और रंगकर्म करने में उनके गांभीर्य और करुणा, नारी चित्रों में उनके शरीर संचालन की विशदता प्रदर्शित करने में, नयनों

की चितवन, नितम्बों के वक्र और वक्ष की गोलाइयाँ दिखलाने में कला की पराकाष्ठा हमें यहाँ मिलती है। अजन्ता के भित्तिचित्र आनन्द को कहे गए बुद्ध वचनों को चित्रों में कहते प्रतीत होते हैं जो उन्होंने वैशाली के निकट अवस्थित एक पहाड़ी पर क्षणभर विश्राम करते हुए उसे कहे थे ''चित्रं जम्बूद्वीपं मनोरमं जीवितं मनुष्याणाम्'' अर्थात् ''जम्बूद्वीप भव्य सुन्दर और आकर्षक है, और वहाँ के लोगों का जीवन मनमोहक है।'' जीवन और जगत से विदा लेते हुए उन्होंने दोनों की समरसता का अनुभव किया। उसी तरह अजन्ता भी एक वरदान और आकर्षण, पारमिता का ज्वलन्त रूप तथा ज्ञान और मृगतृष्णा की गतिमयता का अवलोकन सभी कुछ है।

विशालाकृति रचनाएँ गुहा I और XVII में देखने को मिलती हैं जिन्हें वाकाटक युग में चित्रित किया गया। गुहा I में पद्मपाणि बोधिसत्व की उदात्त मुद्रा शोक और आनन्द से परे की, सूक्ष्म और निस्संग आध्यात्मिकता की है, यद्यपि वह दरबारियों, महिलाओं और रक्षकों के मध्य खड़ा हुआ है। उसका मणियुत स्वर्णमुकुट, गलहार, कर्ण कुण्डल, भुजबंध और कलाइबंध, कन्धे से पीठ तक पहुँचती मोतियों की माला (मुक्तामाल) उसका राजकुमार गौरव दिखाती हैं। वानर, सिंह, कपोत, किन्नर गायक जीवन की सर्वांगता प्रकट करते हैं। बौद्ध धर्म सम्पूर्ण विश्व था। इनमें रंग बड़ी चतुराई से भरे गए हैं। गुहा XVII में अपने पिता महा शुद्धोदन के निमंत्रण पर बुद्ध का कपिलवस्तु में पुनरागमन दर्शाते चित्र में सुकोमल तीक्ष्णता प्रदर्शित की गई है। बुद्ध को इसमें लगभग दस फुट ऊँचा बनाया गया है तथा यशोधरा की आकृति उससे अपेक्षतया छोटी बनी है, परन्तु स्त्री सौन्दर्य दृष्टि से वह मनोहर है, उसकी काया लयात्मक ढंग से चित्रित है। कपोल पर आ गए कुन्तल महीन कूंची कर्म से बनाए गए हैं। उसका वर्ण गुलाबीपन लिए श्वेत बनाया गया है तथा वस्त्रों को हल्की छाया वाले रंग का रखा गया है। जब बुद्ध हरितजीर्ण भिक्षापात्र (कमण्डलु) लिए अपना हाथ यशोधरा की ओर बढ़ाते हैं तो वह बड़े ममत्वपूर्वक आशीर्वाद पाने के लिए राहुल को उनकी ओर बढ़ा देती है। बच्चा अपने पिता की ओर ताकने लगता हैं। सांसारिक बन्धनों के प्रति बुद्ध की उदासीनता के कारण मानव दिव्य शांति प्राप्त कर लेता है। सिंहल अवदान वाली सशक्त पट्टिका में सिंहल के जीवन की कई घटनाओं की शृंखला प्रदर्शित की गई है जो अपने पूर्वजन्म में बुद्ध ही था। पोतध्वंस, उसके बाद उस द्वीप पर राक्षसियों के दल से लड़ती हुई सिंहल की सेना, जहाँ उसका पोत ध्वस्त हुआ था, युद्ध दृश्य का बहुत सुन्दर प्रतिनिधान है जिसमें आक्रमण करने की विधियाँ विभिन्न हथियार और मुठभेड़ का आवेशभरा वातावरण दिखाए हुए हैं। यह अतुलनीय शक्ति की रचना है और वाकाटकों की वीरता प्रदर्शित करती है। विंध्यशक्ति का जिससे वाकाटकों का उदय हुआ उल्लेख एक अभिलेख में ''जिसकी शक्ति युद्धों में निरन्तर बढ़ती चली गई, जिसके शौर्य का देवता तक सामना करने में असमर्थ थे और जो युद्ध करने तथा दान देने दोनों में महान था'' शब्दों से किया गया है। शकों ने विंध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन के हाथों पराजय खाई थी।



वाकाटकों की उभरती हुई शक्ति ने सभी दिशाओं के कलाकारों को आकर्षित किया और उससे अजन्ता की भव्य कला उपलब्धियों का सृजन हुआ। इसमें आत्मा के आभ्यन्तर सौन्दर्य और सुन्दर स्त्रियों की मादकता के रूप में क्षण-क्षण होते परिवर्तन और लोकोत्तरता की अतुलनीय एकता मिलती है। तृष्णा का लोप और थकी-मांदी ऐन्द्रियता दोनों का रेखांकन करते या उनमें रंग भरते समय सौम्यता और सुरुचि से अंकन किया गया है। उरोजों की मृदु गोलाइयाँ, नितम्बों के वक्र और नेत्रों की कुटिल चितवन को उरेहते समय जैसे चित्रकार की शिराओं में प्राचुर्य और उत्तेजना दौड़ रही थी। इतना होने पर भी उसमें से बुद्धों और बोधिसत्वों की भाँति नारी गरिमा चारों तरफ बिखरती हुई दिखाई देती है।

Xवीं गुहा में वृक्ष परियों को नग्न गोल उरोजों सहित सुन्दरता से ढाला गया है। सिर को सम्मोहक झटका देते अथवा तिरछी चितवन डालते नर्तक की कम्पनशील गतियाँ परियों की कठिनता के विपरीत प्रदर्शित हैं। नारियों का चित्रण करने में अजन्ता का रचनात्मक कलाबोध छिपा है। विश्राम करती सुन्दर स्त्रियाँ, दर्पण में प्रतिकृति देख अपनी प्रशंसा करती स्त्रियाँ, बलि ले जाती, खड़ी, बैठी आ गप्प लड़ाती, प्रेमियों से संभाषण करती, गलियों में भीड़ लगाती, खिड़कियों में खड़ी हो, उसका सौन्दर्य बढ़ाती स्त्रियाँ, हवा में उड़कर जाती अप्सराएँ अथवा मृत्यु मुख में जाने को उद्धत नाविकों को लुभाती जलपरियाँ, केशविन्यास करने की नानाविधि रीतियों में सजी स्त्रियाँ, सभी सुरुचि की पराकाष्ठा हैं और कालिदास रचित कुमारसम्भव की इस पंक्ति की याद दिलाती हैं''चित्रकृति की तरह जिसकी अन्तिम रूपरेखा सावधानीपूर्वक चतुर चित्रकार कामदेव ने अंगों का चित्रांकन करते समय अभी-अभी अंकित किया है।'' विष्णुधर्मोत्तर (पुराण) में बताया गया है कि नारायण ऋषि ने आम्ररस पान किया (जिससे कामोत्तेजना बढ़ती है) और उर्वशी का सृजन किया जो सभी नारियों से बढ़चढ़कर हुई। इस तरह उसी ने नियम-उपनियमों सहित चित्रकर्म का आविष्कार किया और उन्हें विश्वकर्मा को पढ़ाया। इस बोधकथा के मानस दर्शन को वाणी अजन्ता में नारियों के सम्मोहक जादुई चित्रण में प्राप्त हुई है।

अजन्ता के चित्रकारों के अलंकरण बोध ने छतों, दीवारों, दरवाजों, खिड़कियों, पीठों और स्तम्भों पर कोई जगह अलंकरण किए बिना नहीं छोड़ी। आभूषणों के आकल्प, ज्यामितीय सज्जाएँ, काल्पनिक मानव या अर्द्ध-मानव आकृतियाँ, नृत्य करती, ताली बजाती या मदिरापान करती आकृतियाँ, क्रीड़ा करते पशु और पक्षी, पत्तियों की हरियाई में खचित फूल और फल सभी निरन्तर परिवर्तित होती विविधता है जो स्थल के इंच-इंच भाग को आवृत्त कर रही है।

अभिव्यंज्य कुरूपता की वीभत्सता बिना किसी दुर्भावना के बुद्ध को समर्पण कर रहे भक्तों के दासों द्वारा चित्रित की गई है। गुहा II में दो मदिरा पियक्कड़ों को दिखाया

गया है जिनमें से एक अपने रूपरंग और वस्त्रों से विदेशी लगता है। उसके दबे हुए कपोल और चिबुक, दाढ़ी के बालों का पतला गुच्छा उसे हास्यास्पद बना रहे हैं।

पक्षियों और पशुओं को वास्तविक यथार्थता से दिखाया गया है क्योंकि कलाकार लोग पशुपक्षियों से सम्पन्न वनों में रहते थे और कुछ इसलिए भी कि बौद्ध मत सभी प्राणियों पर दया करना सिखाता है। जातकों में बुद्ध कितने ही पूर्व जन्मों में पक्षियों और पशुओं के रूप में जन्म धारण करते हुए बताए गए हैं।

रक्त गैरिक, पीतगैरिक, मटियाला हरा, कज्जल काला और चूना श्वेत जैसे मृद रंगों से स्तरों पर छायांकन करके उभरवां प्रभाव लाकर चित्रों को जीवन्त बना दिया गया है। विनय पिटक में बुद्ध ने निवासस्थानों की चूना पुताई, काला रंग फेरने और लाल खड़िया से पुताई फेरने की अनुमति दी है। स्वामी ने बाँधने वाले पदार्थों जैसे मिट्टी में चावल की भूसी, मोम का तेल, केंचुओं की विष्ठा मिलाने की भी अनुमति दी है जिसे फिर कपड़े से रगड़कर साफ कराया जाता था। अजन्ता में खनिज रंगों को अधगीली सतह पर फेरा गया है और उन्हें लगभग दो सेंटीमीटर मोटे पलस्तर में समोया गया है। ऐसा करने से रंगों का उभार पक्का हो गया और चित्रों की अभिघट्यता में वृद्धि हुई। सामने पड़ते विषयों को गाढ़े रंग और पृष्ठभूमि में पड़ती वस्तुओं को हल्के रंग में अथवा इसके विपरीत भी चित्रित किया गया। पालि में इन्हें 'वट्टन' (छाया देना) और 'उज्जोतन' (प्रकाशित करना) कहा जाता है। रेखा की मोटाई कूंची को मुक्तहस्तेन चलाकर छाया और प्रकाश विधि से विषय के सुकोमल अंगों को स्पष्ट प्रकट किया गया है। चौथी या पाँचवीं शताब्दी में वैदूर्य का प्रवेश हो जाने पर लाल और बभ्रु (भूरी) आभाओं द्वारा अन्तर प्रकट करने के बजाय दृश्य गहराई दिखाने के लिए वही प्रभावशाली माध्यम बन गया। पारदर्शी ठंडा नीला रंग आभागत दृश्य को गहराई देकर विस्तार का भ्रम उत्पन्न कर देता था। जेन सम्प्रदाय में नीला रंग ध्यान का होता है और ध्यान की विभिन्न अवस्थाएँ या स्तर उसी नीले रंग की विभिन्न छायाएँ हैं। रंगों की बाहरी और शुद्ध श्रेणियों ने अनेक शताब्दियों के मोर्चा लगे हुए समरस पर्दे को सम्पन्न बनाया है।

अजन्ता की मूर्तियों में, यद्यपि वे भारी हैं, आध्यात्मिक प्रभविष्णुता और परिष्कृत निर्माण कौशल दिखाई पड़ता है। XIX वीं गुहा के प्रवेश पर बनी बुद्ध मूर्ति को शिल्पी ने वैराग्य और विश्वप्रेम की अभिव्यक्ति प्रदान कर दी है। XXVI वीं गुहा में दिखाया गया बुद्ध का परिनिर्वाण विशाल-आयामी है। गुहा II में हारीति और पांचिका की मूर्तियों से बच्चों के कल्याण की निश्चयकारक अभिव्यक्ति फूटी पड़ती है। गुहा XIX की मूतियों में वैशाली की गणिका आम्रपालि "श्वेत वस्त्रों में बिना किसी शरीर शृंगार और बिना कोई आभूषण धारण किए आराधना करती किसी कुलीन नारी के समान बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होती है।" और "अपनी पतली काया को पुष्पित आम्रलता के समान दण्डवत् लेवाने के बाद पूर्ण पावनता में उठ खड़ी हो जाती है।" (अश्वघोष रचित बुद्ध चरित, 22, 17, 51)। नाग, यक्ष, विधाधर, गन्धर्व,



किन्नर और अन्य दिव्य प्राणियों को लचीली गतियों से शिल्पित किया गया है। उड़ते मिथुनों के कोमल रूपों में नारियों को अपने पुरुष साथियों पर सुन्दरता से विश्राम करते उत्कीर्ण किया गया है।

अजन्ता ने भारतवर्ष की प्राचीन चित्रण कला को सुरक्षित करके रखा है जो आगे चलकर बौद्धकालीन एशिया का सौन्दर्य और जीवन्तता बनी। चीनी यात्री भारत के यात्री और शिष्य बनकर मध्य एशिया के गहन मरुस्थलों को पार करते हुए यहाँ आए और भारतीय मठों से पाण्डुलिपियाँ, पवित्र मूर्तियाँ और चित्रों को अपने साथ लेकर वापस गए। अजन्ता और अन्य शरण्यों की कला ने चीन की बौद्ध कला को प्रभावित किया। बहुत अधिक संभावना है कि ह्यून-त्सांग के अपने इस कथन में पूर्व महाराष्ट्र में अवस्थित अजन्ता की ओर ही संकेत है : "यहाँ अवस्थित था एक मठ जिसका आधार बना हुआ था एक अँधियारे संकीर्ण दर्रे (या घाटी) में तथा इसके विशाल महाकक्ष और गहरे कमरे चट्टानों को खोद-काट कर बनाए गए थे और शिखर पर स्थित थी महाशालाओं की शृंखला, जिनके पृष्ठ पर थी वह चट्टान और सामने पड़ता था एक खड्ड। यह मठ पश्चिम भारत के अचल ने बनवाया था।" XXVI वीं गुहा का एक अभिलेख बताता है कि भिक्षु अचल ने अजन्ता में गुहा बनवाई थी। नारा (जापान) के निकट होर्युजी मठ के स्वर्णमहाकक्ष में बनाए गए भित्तिचित्रों की शैली जिसे छठी शताब्दी में बनाया गया, अजन्ता की शैली से मिलती-जुलती है। प्रो. हारुयामा का कथन है कि यहाँ के रंग भरने की रीतियों, छाया देने और त्रिआयामिता पर बल दिए जाने की अजन्ता से बहुत अधिक निकटता है। अधिकांश रेखाओं में लाली लिए भूरे रंग (रक्ताभ बभ्रु) का मिलना भी भारतीयता का प्रतिबिम्ब है। प्रो. किङ्गर कहते हैं कि होर्युजी की चित्रकला तुङ्-हुआङ् गुफाओं से होती हुई भारत के साथ जुड़ी हुई है।

अजन्ता भौतिक सौन्दर्य और आध्यात्मिक पारगामिता में शरीर धारण किए हुए, गहरे आध्यात्मिक आनन्द, सरलता और राजकुमारों, सन्तों और वीर नायकों, वनों और मैदानों, आकाश में उड़ रहे मिथुनों, देवत्व के साथ समरसता में जिए जा रहे जीवन की अभिव्यक्ति करती बाघोरा नदी में सात छलांग (सप्त कुण्ड) लगा गिरते, प्रपात बनाते पहाड़ी नाले के भव्य प्राकृतिक दृश्यों से शराबोर हुआ मन है। भित्तिचित्रों की मधुर संवादी रेखाएँ और मूर्तियाँ काव्यमयी परिपूर्णता में परिवर्तित हो ऐश्वर्यमयी दीप्ति और प्रशान्ति बन जाती हैं। अजन्ता हमें आश्चर्य और समादर भावना से परिप्लावित कर देता है और हम ऋषितुल्य उन साधुओं के समक्ष पहुँच जाते हैं जो कभी यहाँ रहते और इन गुहाओं में ध्यान किया करते थे और उन प्राचीन कलाकारों को अनुभव करने लगते हैं जिन्होंने बहुत अधिक समय हुए यहाँ उदात्त विचारों को शरीर और आकृति प्रदान की। यह हमें उस जापानी कवि का स्मरण कराता है जिसने लिखा"और पाषाणों में / जो एक स्वप्न की छायाएँ हैं।" और अपने भव्य समानुपात और उदात्त भावनाओं से युक्त इन गुहाओं की शिल्पकारी के पीछे एक मन है, चेतना का गुणांक है जो साधक को इस विश्व की चेतनता के प्रकाश में विलीन कर सकते हैं।

प्लातो के *सिम्पोजियम* में सुन्दर शरीर का चिन्तन करना उस सीढ़ी का एक सोपान मात्र है जो सर्वोत्तम श्रेष्ठ रूप, आदि रूप विचार की ओर ले जाता है। अजन्ता मन का नग्न पादप्रकाश है जो इस संसार और उस अन्य दुनिया के रूपों का द्वार खोलता है जिसकी हमें केवल एक झलक भर मिल पाती है। वह शून्यता का शरण्य है जो नेत्रों और मन से भी परे है और अनन्तों के आर-पार अनन्तों से चतुर्दिक घिरा हुआ है।

अजन्ता की यात्रा करने आया आन्द्रे मालरौ अपने संस्मरणों में लिखता है"मन क्या है? अज्ञात से छोड़ा हुआ एक वाण। हाथ में कमल धारण किए हम सब बोधिसत्व ही तो हैं, जो इस नदी को देख रहे हैं जो इस खड्ड में से होती हुई बह रही है। करुणा ही संसार की रचना करती है, जैसा धुँधलका दिन की रचना........

"यदि एलोरा मध्यकालीन है तो अजन्ता पुनर्जागरण कालीन। यहाँ मानव पुष्पित है। सच है, वह दुखों से दुखी है, जीवन होते चले जाने का चक्र है। यही कारण है कि प्रत्येक को ये फूल हाथ में रखने चाहिए और दीवार पर बने हंसों पर दृष्टि डालनी चाहिए जिस पर बुद्ध का जीवन इतने वैभवों से संगठित किया गया है कि इस जीवन में मर कर भी जीवित रहा जा सकता है। बुद्ध माता, माया प्रसव पीड़ा में अपना शरीर इतनी मानवीय विश्वजनीनता से ऐंठा रही है कि उससे प्रभावित हो उसके आस-पास के वृक्ष पुष्पित हो उठे हैं।

"बोधिसत्व के अतिरिक्त इन राजकुमारियों, प्रेम से गोलायित हो उठे उनके उरोजों, कूकती ऐन्द्रिकता वाले उनके अंगों, सुपुष्ट नारीत्व के उनके जूड़ों पर दृष्टिपात करो। मानव इन्हें पीछे छोड़ जाता है, क्योंकि वह धुँधलके से भरे जगत की ओर देखता है जो वस्तुतः इस दुनिया का है ही नहीं। संसार है ही नहीं। बस शून्यता है, केवल शून्यता ही है।"

## सन्दर्भ


- रैनिरो ग्नोली, दि गिल्गित मैन्युस्क्रिप्ट्स आफ दि संघभेद वास्तु बीइंग दि सेविनटींथ एण्ड लास्ट सेक्शन आफ दि विनय आफ मूल सर्वास्तिवादिंस, भाग I, II रोम (आई.आई.एम.ई.ओ.) 1977, 1978
- जे. एडवर्ड किड्डेर (जूनि.) अजन्ता एण्ड होर्युजी, अन्त. इण्डियाज कंट्रीब्यूशन टु वर्ल्ड थॉट एण्ड कल्चर, पृ. 347-358, मद्रास (विवेकानन्द रॉक मेमोरियल कमिटी) 1970
- आन्द्रे मालरौ, मालरौ एण्ड इण्डियाए पैसेज टु वंडरमेंट, नई दिल्ली (एम्बासाद द फ्रांस आँ इन्द), नई दिल्ली
- पी.डब्लू. (= पीटर्सबर्ग वोर्टरबुख) ऑटो बॉटलिंक एण्ड एडोल्फ रॉथ, संस्कृत वोर्टरबुख, सेंट पीटर्सबर्ग (कायजरलिशेन एकेडेमी डेर विस्सेनशाफ्टेन), 1855-1875
- डीटेर श्लिंगलोफ्फ, गाइड टु दि अजन्ता पेंटिंग्स, नई दिल्ली, 1996




# नेपाल में नाटकीय पटाक्षेप : कितने तंत्र : राजतंत्र, प्रजातंत्र या माओतंत्र?

**ए. सी. सिन्हा***

विगत वर्षों से नेपाल प्रायः समाचार पत्रों की सुर्खियों में छाया रहा। घटनाक्रम, उनके सूत्रधार, उनके अभिनेता, पर्यवेक्षक या जन-साधारण जब तक एक छवि की पहचान बनाते तब तक कम-से-कम तीन नयी संभावनायें आ खड़ी होती। गौरवशाली हिन्दु राजशाही अपनी विसंगतियों से सीख लेने के स्थान पर अपनी ही प्रजा से कटती जाती है। अपने विशाल जनाधार के बावजूद नेपाल में जनतांत्रिक संघर्ष का प्रणेता, नेपाली कांग्रेस, अपने नेतृत्व के खोखलेपन के कारण नेपाल में राष्ट्रीय स्थायित्व प्रदान नहीं कर पाती है। मनमोहन अधिकारी का साम्यवादी दल और उसके विभिन्न बिखरे घटक जनसाधारण में विश्वास के स्थान पर संशय और आक्रोश पैदा करते हैं। विभिन्न राजतांत्रिक राजकीय घटक भ्रष्ट सामन्तशाही के चाटुकार चाकर के रूप में सामने आते हैं। हथियारबन्द माओवादी गोरिल्ले दूरदराज के दुर्गम क्षेत्रों के सरकारी प्रतिष्ठानों को ध्वस्त करते हैं, लोगों को बन्धक बनाते हैं; हत्या, आगजनी और लूटखसोट के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में अराजकता स्थापित करते हैं। राजशाही आरक्षी जन भाग खड़े होते हैं। लड़ाकू गोरखा सेना आंतरिक अराजकता से जूझती तो हैं, परन्तु निर्णायक विजय नहीं प्राप्त कर पाती। इस अराजकता, अव्यवस्था और आक्रोश के बीच नेपाल नरेश और उनकी प्रजा के बीच का परम्परागत सम्वाद टूट जाता है। परिणाम जानते हुये भी नेपाल नरेश अपनी प्रजा से हठधर्मी करते हैं। फलस्वरूप करीब ढाई सौ साल पुरानी गोरखावंशीय राजतंत्र का अन्त होता है। परन्तु प्रशासन एक प्रश्न ही बना रहता है। एक तरफ तो टूटती परम्परा की जंजीरों से स्वतंत्र प्रत्येक समुदाय अलग दिशा का रुख किये हुए हैं; तो दूसरी तरफ, कुछ अन्य एक नये प्रकाश के विवेकरहित राष्ट्रीयता के बुखार से पीड़ित है। नेपाल में सब कुछ बदल रहा है और यह बदलाव आराजक, त्वरित और दिशाहीन दिखता है।

* प्रोफेसर, ए. सी. सिन्हा, पूर्व संकायाध्यक्ष, समाज विज्ञान संकाय, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग। पताः डी7/7331, बसंत कुंज, नयी दिल्ली-110070

## पृष्ठभूमि

आखिर ऐसी स्थिति कैसे आ खड़ी हुई? इस सरल प्रश्न का उत्तर जटिल है। इसके लिए हमें नेपाल की भौगोलिक स्थिति, इसके इतिहास, अर्थव्यवस्था और पिछले छह दशकों की राजनीति को सरसरी नजर से देखना होगा।

मध्य हिमालय के दक्षिणी ढलान पर अवस्थित नेपाल करीब पांच सौ मील लम्बा और 130 मील चौड़ा और 54,000 वर्ग मील में फैला एक छोटा सा आयतकार देश है। नेपाल में उत्तुंग पर्वत चोटियाँ, बर्फीली सदा सलिला नदियाँ, उपजाऊ नदी घाटियाँ, सघन वन और तराई के मैदानी भाग हैं। यहाँ के निवासी गोरखे प्रायः गठीले, ठिगने, हरफनमौला और अत्यन्त परिश्रमी होते हैं। उद्योगों के अभाव में यह कृषकों और पशुपालकों का देश है। विभिन्न पर्वत श्रृंखलाओं, घाटियों में विभिन्न भाषा-भाषी प्रजातियों की आबादी है। इस प्रकार नेपाल में सर्वाधिक जातियाँ जनजातियाँ हैं। काठमांडु घाटी और तराई में कुछ मुसलमान बसते हैं। नेपाल के विभिन्न क्षेत्रों में बौद्ध धर्मावलम्बी बसते हैं। नेपाली, नेवारी, मैथिली और हिन्दी मुख्यभाषायें बोली और लिखी-पढ़ी जाती है। खेती और पशुपालन के अतिरिक्त नेपाली युवक भारत, ब्रिटेन और नेपाल की सेना में गोरखा सैनिकों के रूप में यश कमा चुके हैं। एक जमाने में अंग्रेजी साम्राज्य नेपाल को 'सिपाहियों की खेती' (Soldiers' farm) मानता था। परन्तु स्थिति आज बदल चुकी है। आधुनिक नेपाली अर्थव्यवस्था खेती, विदेशी मनीआर्डर (moneyorder) और पर्यटकों से होने वाली आय पर आश्रित है।

विभिन्न पर्वत श्रृंखलाओं में अवस्थित गणजातियाँ प्राचीनकाल से प्रायः अपने सरदारों, मुखियाओं के अधीन संगठित थीं। एक प्रकार की आदिम अर्थव्यवस्था प्रचलित थी जिसमें वस्तु-विनिमय होता था और कृषक प्रायः अभाव का जीवन व्यतीत करते थे। पर्याप्त बचत के अभाव में केन्द्रीय संगठन का अभाव था। कहते हैं कि मध्य और तराई का अधिकांश भाग मगध साम्राज्य का अंग था। तराई की शाक्य और लिच्छवी गणजातियाँ कालान्तर में मौर्य और गुप्त साम्राज्य में अन्तर्मुक्त हो गयीं। पौराणिक मिथिला नरेश जनक और ऐतिहासिक मिथिला पूर्वी तराई को अलग नहीं किया जा सकता। कालान्तर में गोपाल (गाय पालने वाले) और महिषपाल (भैंस पालने वाले) वंशीय शासकों ने राज्य किया। एक अनुमान के अनुसार नेपाल शब्द की व्युत्पत्ति तिब्बती मूल के 'न्हत' (पशु) + पा (मनुष्य) शब्दों में निहित है, जिसका अर्थ हुआ 'पशुपालक।' स्मरणीय है कि आज भी नेपाल की अर्थव्यवस्था में कृषि और पशुपालन का मुख्य योगदान है। यों तो 'नेपाल' शब्द की व्युत्पत्ति विषयक दो अन्य विचारधारायें भी हैं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में काठमांडु घाटी के स्थान पर एक झील हुआ करती थी। परम्परा है कि 'नेति' ऋषि ने दक्षिणी पर्वत-कन्दराओं को काटकर झील के पानी को दक्षिण दिशा में प्रवाहित करा दिया और घाटी में कृषि



व्यवस्था का आरम्भ किया। फलस्वरूप कृतज्ञ कृषकों ने अपनी भूमि को नेति द्वारा पालित - नेपाल - (ने + पाल) - नाम दिया। सदियों तक नेपाल का अर्थ मात्र काठमांडु घाटी होता था। एक अन्य विचार के अनुसार नेपाल शब्द काठमांडु घाटी के मुख्य और प्राचीन निवासियों, नेवारों के नाम पर, नेवार शब्द का ही एक रूप है। शब्द की व्युत्पत्ति जो भी हो, नेपाल शब्द सीमित अर्थों में ही प्रयुक्त होता था। यहाँ तक तक कि जॉन ह्वेल्पटन (John Whelpton) के मुताबिक 1930 के दशक में राणाओं ने 'गोरखा' राज्य और 'गोरखाली' भाषा को 'नेपाल' राज्य और नेपाली भाषा के रूप में नामकरण किया। फिर भी नेवार समुदाय के सदस्य वर्षों तक नेवार भाषा को ही 'नेपाली' की संज्ञा देते रहे।

## गोरखा या नेपाली

आज के नेपाल को परिभाषित करने के लिए मध्य काल में कोई शब्द नहीं था। मानवशास्त्री मानते हैं कि प्रतिष्ठान और प्रभुता के भूखे गणजाति सरदार प्रायः निर्बल और निर्धन क्षत्रिककन्याओं से ब्याह रचा कर सामाजिक प्रतिष्ठा पाते रहे हैं। कहा जाता है कि मध्यकाल में नेपाल के 'खस' गणजाति के सरदार इसी प्रक्रिया को अपना कर क्षत्रिय बने। इसी समय तुर्क आक्रमण और मुगल आक्रमणों से आक्रान्त और परास्त पश्चिमी भारत के कुछ क्षत्रिय नेपाल की पहाड़ियों में शरणागत हुये और अपने पराक्रम से कई छोटे-बड़े राज्यों का संगठन किया। गाहे-बगाहे ये रजवाड़े अपने को मुगल बादशाह के अधीन मानते थे। पश्चिमी नेपाल में अवस्थित 'बाइसी' (22) और मध्य नेपाल में अवस्थित 'चौबीसी' (24) राज्यों के संघ ऐसी ही इकाईयाँ थी। स्मरणीय है कि पूर्वी तराई का इतिहास मिथिला का इतिहास था और काठमांडु घाटी में मल्ल वंशियों का राज्य था। गोरखा नामक छोटा राज्य चौबीसी का एक इकाई था तथा अधिकांशतः आधुनिक पूर्वोत्तर नेपाल 'किरात' मूलक गणजातियों के वश में था। उपरोक्त गोरखा राज्य की स्थापना द्रव्यशाह ने 1559 में की थी। गोरखा नरेश अपने को चित्तौड़ (राजस्थान) गढ़ के जुझारू क्षत्रिय परिवार का प्रवासी अंग मानता है। द्रव्यशाह के 10वीं पीढ़ी में इस वंश का सर्वाधिक यशस्वी नरेश, पृथ्वी नारायण शाह, का जन्म 1728 में हुआ। चौदह वर्ष में सिन्हासत्तारूढ़ होने से लेकर मृत्यु पर्यन्त (1775) पृथ्वीनारायण शाह ने अपने अथक प्रयास और अदम्भ युद्ध कौशल से नेपाल का एकीकरण किया। कृतज्ञ राष्ट्र उन्हें नेपाल के राष्ट्रपिता के (Father of the Nation) रूप में याद करता है। उनके बाद तीन उत्तराधिकारियों ने राज्य की सीमा पश्चिम में सतलज नदी से लेकर पूरब में तीस्ता नदी तक तथा उत्तर में हिमालयी शिखरों से लेकर दक्षिण में तराई के मैदानों तक फैला दी। गोरखा सैनिकों को तनख्वाह के स्थान पर विजित राज्यों में लूट-खसोट करने की आजादी थी तथा सेना नायकों को जागीरें और पदवियाँ दी जाती थीं। इस प्रकार गोरखा सेना अनवरत युद्ध करने के

लिए उद्धत रहती थी। पृथ्वी नारायण शाह ने अपने को ''पर्वतों का राजा'' तथा गोरखा राज्य को ''असली हिन्दुस्तान'' बताया और अपने राज्य को ''चार वर्णों और छत्तीस जातियों की फुलवारी'' की संज्ञा दी। इस अबाध और अनवरत युद्ध एवं राज्य विस्तार की परिणति 1814-15 में भारत की तत्कालीन औपनिवेशिक सरकार, ईस्ट इंडिया कंपनी, और नेपालियों के बीच युद्ध में हुई। आधुनिक हथियारों के अभाव और सीमित साधनों के बावजूद गोरखा सैनिकों ने कम्पनी की सेना का बहादुरी से सामना किया। यही नहीं, चार में से तीन मोर्चों पर अंग्रेजों को परास्त भी किया। परन्तु अन्ततोगत्वा जीत कम्पनी बहादुर की ही हुई और नेपाल को कम्पनी की शर्तों पर शुगौली की संधि करनी पड़ी। इस युद्ध ने अंग्रेजों और गोरखों को एक-दूसरे की सीमाओं और बारीकियों से परिचित कराया। जहाँ अंग्रेजों ने गोरखों को लड़ाकू, निर्भय, विनोदप्रिय और स्वामीभक्त पाया; वहीं गोरखों ने अंग्रेजों को खतरनाक दुश्मन, परन्तु दयालु मित्र पाया। यह दूसरी बात है कि अंग्रेजों की भारतीय साम्राज्य के इर्दगिर्द बफ्फर राज्य (Buffer State) की अवधारणा में गोरखा राज्य एक विशेष भूमिका अदा कर रहा था। संधि के अनुसार पश्चिम में काली गंडकी और पूरब में मेची नदी नेपाल की सीमा बनी और उनके पार के विजित क्षेत्र, जिन पर प्रायः 15-45 साल तक नेपाल का कब्जा था, खाली करना पड़ा। स्मरणीय है कि ये क्षेत्र (यानी अल्मोड़ा, गढ़वाल और सिक्कम और दार्जिलिंग) कभी भी परम्परागत रूप से नेपाली राज्य के नहीं थे। परन्तु आज भी नेपाल के कुछ सांस्कृतिक विस्तारवादी बृहद् नेपाल (Greater Nepal) की कल्पना करते नहीं थकते; जिसमें सतलुज से तीस्ता तक की भूमि की भारतवर्ष से वापसी की अपेक्षा की जाती हे।

1816 से अगले तीन दशक नेपाल के इतिहास में लुडविग स्टेलर (Ludwig Steller) के मुताबिक सुसुप्त वर्ष (silent years) माने जाते हैं। परन्तु कहानी कुछ और ही है। गोरखा नरेश राजेन्द्र शाह की माता और विमाता, वरिष्ठ और कनिष्ठ महारानियों, सरदारों, भीमसेन थापा और आतंबर सिंह थापा, के बीच दरबारी षड्यंत्र इतना बढ़ गया कि इसकी परिणति 14 सितम्बर, 1846 की रात में राज्यपरिषद् की जघन्य हत्या (Court or Kot Massacre) में हुई। इस हत्याकांड में तत्कालीन मुखिया फतहजंग समेत 30 सभासदों की हत्या हुई और उनके 6000 परिजनों को नेपाल से निर्वासित कर दिया गया। बताया गया है कि इस हत्या का सूत्रधार राणा जंग बहादुर कुँवर था, जिसे आतंकित नरेश दम्पत्ति ने तत्क्षण प्रधानमंत्री का पद सौंप कर राहत की साँस लेनी चाही। कालान्तर में राणा जंग बहादुर ने नेपाल नरेश को नाममात्र के लिए सार्वभौम नरेश रखा और अंग्रेजों के सह पर दुनिया का अत्यन्त ही खूंखार प्रशासन तंत्र, राणाशाही को प्रचलित किया। जंगबहादुर से मोहन शमशेर तक 105 वर्षों के राजशाही में नव प्रधानमंत्री हुये। यह नेपाल के इतिहास का अत्यन्त ही क्रूर, दकियानूस, प्रतिक्रियावादी और दमनकारी युग माना जाता है। यों कहने को राणाओं



का वर्चस्व था। पर विडम्बना यह हे कि उनमें भी एक वर्ग ने सारे विशेषाधिकार हथिया लिया था। यहाँ तक कि कालान्तर में राणा जंग बहादुर के वंशजों को भी उन विशेष अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। यह तिकड़म राणाओं को A, B, C तीन वर्गों में बांट कर प्रधानमंत्री एवं सेवाध्यक्ष आदि के मुख्य पद A क्लास के राणाओं के लिए, तथा C वर्ग के राणाओं को दूरदराज के जिलों में छोटे-मोटे पद दे दिये गये थे। कहना न होगा कि राणाओं के इस वंचित वर्ण ने राणाशाही के विरूद्ध प्रजातांत्रिक शक्तियों का साथ दिया।

राणाओं ने नेपाल को एक तरह से अपनी पारिवारिक सम्पत्ति बना डाला था। इन्होंने आँख मूंद भारत में औपनिवेशिक अफसरशाही का समर्थन किया। इसका आरम्भ राणा जंग बहादुर ने खुद 1857 के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के विरूद्ध अपनी सेना के साथ गोरखपुर की सफर की और अंग्रेजों का पुरजोर समर्थन किया। अंग्रेजों ने पारितोषिक स्वरूप पश्चिमी नेपाल तराई के चार जिले राणा जंग बहादुर को सुपुर्द किया, जिसे उसने अपनी पारिवारिक सम्पत्ति बना डाला। राणाओं ने अपने लिए शिक्षण, प्रशिक्षण, विलास और सुविधाओं का प्रावधान किया। परन्तु नेपाल नरेश का परिवार प्रायः बन्दी का जीवन व्यतीत करता था। उचित शिक्षा, प्रशिक्षण, सम्पर्क आदि के अभाव में नेपाल नरेश मानसिक रूप से पंगु बन कर रहे गये थे। उन पर पकड़ बनाये रखने के लिए उन्हें जबरन राणा कन्याओं से विवाह रचाना पड़ता था। उदाहरणार्थ त्रिलोक विक्रमशाह राणा जंग बहादुर के तीन पुत्रियों के पति थे और उनके पोते महेन्द्र विक्रम शाह राणा युद्ध शमशेर की दो पुत्रियों के पति थे। नेपाल नरेशों को विधिवत शिक्षा नहीं दी जाती थी। फलस्वरूप त्रिभुवनवीर विक्रमशाह (1911-1955) और महेन्द्र विक्रम शाह (1955-1972) का किसी प्रकार की शिक्षा की विधिवत डिग्री नहीं थी। शायद यही कारण था कि ये दोनों नरेश मानसिक ग्रंथी के शिकार बन गये। वे अपने को इतने असुरक्षित समझते थे कि उनका व्यवहार प्रायः सामान्य नहीं हो पाता था। इस संदर्भ में स्मरणीय है कि 6 नवम्बर, 1950 से अपने दिल्ली प्रवास में नेपाल नरेश त्रिभुवन अतिशय शराब पीकर होटलों में नाचने लगते थे, जिसकी चर्चा पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विश्वेशर प्रसाद कोइराला से की थी। तत्कालीन प्रधानमंत्री राण मोहन शमशेर को त्रिभुवन वीर बिक्रम शाह पिता तुल्य मानते थे; परन्तु इसके आतंक में जीते थे। अगर उनका वश चलता तो वे अपने प्रधानमंत्री को पदच्युत कर देते (चटर्जी, भोला : 1980:82)। नेपाली प्रशासन पर पकड़ बनाये रखने के लिए राणाओं ने दो दूरगामी कदम उठाये, जो एक-दूसरे के पूरक थे। प्रथमतः राणाओं ने हिन्दु धर्म - सनातन धर्म - को नेपाल का राष्ट्र धर्म घोषित किया। द्वितीय, धर्मशास्त्रों से प्रभावित ऊँच-नीच और छुआछूत आदि सामाजिक विषमता को मजबूत करने के लिए 'मुल्की आईन' (Mulki Ain, .... Civil Code),

1854 में व्यवस्था दी। इस व्यवस्था के अनुसार सत्ता-सामन्तों ने नेपाल की भूमि पर अवस्थित सभी समुदायों को एक अखिल नेपाल जाति व्यवस्था मूलक शृंखला में पिरो डाला। मुलकी आइन के मुताबिक द्विज जातियां (तागाधारी) को सर्वोपरि और अछूतों (पानी नाचाल्या छोड़-छीतो पालनुपारन्या) को निम्नतम श्रेणी में रखा गया और बीच में अन्य तीन वर्णों की व्यवस्थायें की गयी : नामाशिया अतवाली (वे जातियाँ जो शराब पी सकती थीं, परन्तु उन्हें दास नहीं बनाया जा सकता था), मांशिया मतवाली (जो शराब पी सकती थी, परन्तु उन्हें दास बनाया जा सकता था) तथा अछूत, परन्तु वे जातियाँ, जिनका दिया हुआ पानी द्विज स्वीकृत कर सकते थे (पाणी ना चालान्या छोई-छीटो हालनुनानान्या)। वैवाहिक, सामाजिक असमानता तथा भोजनादि की शुद्धता पर आधारित यह जाति-व्यवस्था पूरे नेपाल में देव-प्रदत्त संविधान के रूप में प्रतिष्ठित की गयी थी। व्यवस्था की अवहेलना करने पर कठोर डढ की मान्यता दी गयी थी। स्मरणीय है कि नेपाल के बाहर भी प्रवासी नेपाली इसी व्यवस्था के द्वारा नियंत्रित होते थे। नेपाल नरेश महेन्द्र ने मुल्की आइन के कुछ प्रावधानों को 1963 में निरस्त कर दिया था। परन्तु यह व्यवस्था जनान्दोलन, 1990 तक लागू रही।

## राजनैतिक सुगबुगाहट और पहल

राणाशाही का प्रयास था कि तेजी से बदलती दुनिया से अलग नेपाल को अपनी निजीगत जागीर बनायी रखी जाय। स्वाभाविक है कि वहाँ जन-स्वास्थ्य, आम शिक्षा और आवागमन के साधनों का विकास नहीं किया गया। राणाचन्द शमशेर (1901-1929) ने अपने पूर्ववर्त्ती प्रधानमंत्री, देव शमशेर, द्वारा स्थापित चन्द प्राथमिक पाठशालाओं को भी बन्द कर दिया। यह वही सज्जन थे, जिन्होंने ब्रिटेन के साम्राट पंचम जार्ज को नसीहत दी कि अंग्रेजों ने भारतीयों को शिक्षा देने की गलत की; फलस्वरूप राष्ट्रवादियों की चुनौती उन्हें झेलनी पड़ रही है। अत्यन्त चौकसी के बावजूद नेपाली जनता में राजनैतिक सुगबुगाहट शुरू हो गयी थी। 1930 के दशक में 'नेपाल प्रजा परिषद' नामक गुप्त दल ने राणाशाही के विरूद्ध नेपाल नरेश से सम्पर्क करने की कोशिश की। कुछ उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने डुपलेकेटींग (Duplicating) मशीन की सहायता से इश्तहार निकालकर राणाओं के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए जनता का आह्वान किया। परन्तु इस प्रकरण में संलग्न व्यक्तियों का सुराग प्रशासन को लग गया। फलस्वरूप चार सदस्यों को फाँसी दे दी गयी और परिषद् अध्यक्ष, टंक प्रसाद आचार्यो को, ब्राह्मण होने के कारण फाँसी न देकर कारावास में डाल दिया गया।

ज्ञात हो कि नेपालियों का एक वर्ग, जो भारत में शिक्षा, व्यवसाय या आजीविका के संदर्भ में निवास करता था, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से प्रभावित होकर राजनैतिक रूप से सक्रिय था। कुछ समाज सुधारक के रूप में, कुछ साहित्य और



पत्रकारिता के माध्यम से और अन्य छद्म रूप से राणा विरोधी आयोजन करते थे। स्वाभाविक है अधिकतर की सहानुभूति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ थी। परन्तु कुछ साम्यवादी भी थे। बिशेश्वर प्रसाद (B.P.) कोइराला, जो कांग्रेस में होते हुए भी कांग्रेस समाजवादी दल के सक्रिय सदस्य थे, को बी.पी. कोइराला सरीखे समाजवादी विचारधारा मानने वाले राजकीय कार्यकर्त्ताओं ने नेपाल की क्रूर राणाशाही के विरूद्ध सशस्त्र क्रांति का रास्ता अपनाया। कालान्तर में सशस्त्र क्रान्ति के लिए धन की व्यवस्था मुख्यतः असंतुष्ट प्रवासी राणाओं ने की। हथियार बर्मा से प्राप्त किये गये और नेपाल के भारतीय पड़ोसी राज्य, बिहार, बंगाल और उत्तर प्रदेश की जनता और सरकारों ने पुरजोर समर्थन किया। कलकत्ता, दार्जिलिंग, पटना, बनारस और नेपाल से आये कार्यकर्त्ताओं ने जनवरी, 1947 में नेपाल कांग्रेस की स्थापना कलकत्ते में की। प्रतीकात्मक रूप से नेपाली जेल में बन्द टंक प्रसाद आचार्य को अध्यक्ष और बी.पी. कार्यकारी अध्यक्ष चुने गये। स्मरणीय है कि बी.पी. और उनके साथी नेपाल की राणा विरोधी मुहिम को भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के संदर्भ में ही देखते थे। वे स्वयं समाजवादी दल के सक्रिय सदस्य के रूप में वे भारतीय स्वतंत्रता सेनानियों के साथ जेल जा चुके थे। फलस्वरूप उनका भारतवर्ष के चोटी के नेताओं - जवाहरलाल, राजेन्द्र प्रसाद, जयप्रकाश नारायण, जगजीवनराम, श्रीकृष्ण सिन्हा आदि से निकट का सम्बन्ध था। बी.पी. के पिताकृष्ण प्रसादएक विलक्षण व्यक्ति थे, जो शिक्षण और रचनात्मक कार्यों में व्यस्त होने के बावजूद, निर्भय समाजसुधारक और छोटे-मोटे उद्यमी थे। अपने आदर्शों के चलते उन्होंने नेपाल से निर्वासित होना पड़ा और उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। इस स्वाभिमानी व्यक्ति ने अत्यन्त गरीबी में अपने परिवार का भरण-पोषण और शिक्षण पूरा किया। संभवतः के.पी. कोइराला दुनिया के एकमात्र पिता हैं, जिनके तीन पुत्र (मातृका, विश्वेश्वर और गिरिजा) कालान्तर में अपने देश के प्रधानमंत्री बने।

नेपाली कांग्रेस ने धन, जन, शस्त्र इकट्ठे किये और 1950 में राणाशाही के विरूद्ध मुक्तिसंग्राम छेड़ दिया। इस संघर्ष में नेपाल की तराई की जनता के साथ उत्तर बिहार के अनगिनत स्वयंसेवकों ने भाग लिया। यह मुक्ति संग्राम मुख्यतः पूर्वी और मध्य तराई में लड़ा गया और उसमें मुक्ति सेना ने पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की। (रणु, फ. न. : 1977)। मुक्ति संग्राम का एक वर्ग महाराजा त्रिभुवन के सम्पर्क में था और राणाशाही से निजात पाने के लिए आतुर नेपाल नरेश ने मौका पाकर नवम्बर 6, 1950 को पिकनिक जाने के बहाने सपरिवार काठमांडु स्थित भारतीय दूतावास में शरण ली। महाराजा की अपील पर भारत सरकार ने उन्हें राजनैतिक शरण दे दी। क्रोध से पागल नेपाल का प्रधानमंत्री राणा मोहन शमशेर नेपाल नरेश के चार वर्षीय पोते को सिंहासनरूढ़ कर विधिवत दरबारियों से रस्म अदा कराकर अंतर्राष्ट्रीय

मान्यता की अपील करता है। यह वही सज्जन ज्ञानेन्द्र वीर बिक्रमशाह है, जिनका लगभग पांच दशक बाद अपने बड़े भाई वीरेन्द्र के सपरिवार हत्या के बाद दुबारा सिंहासन सम्पन्न हुआ और उन्हें शाह वंश के अन्तिम नेपाल नरेश होने का गौरव प्राप्त हुआ। परन्तु राणाओं के लाख कोशिश के बावजूद किसी भी विदेशी सरकार ने त्रिभुवन के कठपुतली उत्तराधिकारी को मान्यता नहीं दी।

एक तरफ उपरोक्त कूटनीतिक संघर्ष चल रहा था, तो दूसरी तरफ, नेपाली कांग्रेस की मुक्ति सेना राणा प्रशासन को परास्त कर एक के बाद एक मोर्चों पर विजय पा रही थी। इस दोहरी मार से खोखली राणाशाही ने सुलह की पहल की। फलस्वरूप नेपाल नरेश त्रिभुवन, नेपाली कांग्रेस और राणाओं के बीच दिल्ली के एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ, जिसके अनुसार नेपाल नरेश विधिवत काठमांडु राष्ट्राध्यक्ष के रूप में वापस आये; राणा मोहन शमशेर प्रधानमंत्री बने रहे, परन्तु एक साझी सरकार के। यह खिचड़ी सरकार नहीं चलनी थी, सो नहीं चल पायी। इस राजनैतिक उठापटक के बाद नेपाली जनता की उम्मीदें आसमान छू रही थीं। परन्तु अनुभवहीन नेपाल नरेश, प्रतिक्रियावादी राणाओं और उद्धत नेपाली कांग्रेस के बीच किसी प्रकार का समन्वय नहीं बन पाया। नया संविधान, नया चुनाव, प्रशासकीय, आर्थिक और सामाजिक सुधार के वादे किये गये, परन्तु उन्हें भुला दिया गया। नरेश, राणा और राजनैतिक दल सभी आधिकारिक पदों पर बैठने को आतुर थे; परन्तु जनता की समस्यायों की तरफ किसी की नजर नहीं थी। फलस्वरूप अव्यवस्था, अराजकता और अनिश्चियतता बढ़ती गयी। 1950 के दशक में कई सरकारें बनीं और पदच्युत हुई। अंत में एक सीमित संविधान के आधार पर मार्च 1959 को पहला आम चुनाव हुआ। केन्द्रीय प्रतिनिधि सभा की 109 में से 74 स्थानों पर विजय प्राप्त कर नेपाली कांग्रेस के नेता बी.पी. कोइराला प्रधानमंत्री बने। तब तक 1955 में नेपाल नरेश त्रिभुवन की मृत्युपर्यन्त उनके पुत्र महेन्द्र विक्रमशाह नेपाल नरेश थे। कोइराला के समाजवादी रुझान और महेन्द्र के अधिनायकवादी विचारों में शीघ्र ही टकराव होने लगा। दिसम्बर, 1960 को प्रतिनिधि सभा भंग कर दी गयी; मंत्रीगण बन्दी बना लिए गय और प्रशासन की बागडोर नेपाल नरेश ने खुद अपने हाथों में ली। चन्द वर्षों में तथाकथित नेपाली परम्परा सम्मत पंचायती प्रशासन व्यवस्था लागू की गयी। पंचायत प्रणाली में मंत्रीमंडल बनते रहे और बिगड़ते रहे। महाराजा को देशभक्तों की नहीं राजभक्त की तलाश थी। फलस्वरूप मंत्री-परिषद् जनकल्याण के स्थान पर रागदरबारी अलापते रहे। राजनैतिक दल गैरकानूनी करार दे दिये गये। राजनैतिक संगठन और उनसे जुड़ी गतिविधियाँ देशद्रोह करार कर दी गयी। नेपाल को पश्चिमी पर्यटकों की क्रीड़ा स्थली में बदल दिया गया। यह प्रतिगामी प्रकरण 1960 से 1990 तक चला और इसकी परिणति प्रथम जनान्दोलन, 1990 में हुई, जिसने नेपाल की राजनैतिक तस्वीर ही बदल दी।



## प्रथम जनान्दोलन, 1990

नेपाली कांग्रेस के प्रधानमंत्री बी.पी. कोइराला की बरखास्तगी और बन्दी बनाये जाने से लेकर 1990 तक के तीन दशक नेपाल नरेश महेन्द्र और उनके पुत्र बीरेन्द्र के एकछत्र राज्य के वर्ष थे। नेपाल नरेश निर्विवाद रूप से एकमात्र सत्ता सम्पन्न बन गये। राजनैतिक दल तो पहले ही असंवैधानिक करार दे दिये जा चुके थे। परन्तु विभिन्न दलों के अवसरवादी नेता नरेश से क्षमा मांग कर पंचायत पद्धति के समर्थक बन बैठे। फिर तो ऐसे व्यक्तियों को नेपाल नरेश पदासीन करते और पदच्युत करते रहे। भूतपूर्व प्रधानमंत्री बी.पी. कोइराला क्रमशः बन्दीगृह, अस्पताल या निर्वासन में जीवन बिताते रहे। पर्यटन उद्योग तो चमका, परन्तु उसके नकारात्मक परिणाम भी उजागर होने लगे। बड़े पैमाने पर वातावरण प्रदूषण। सामान्य जनता गरीबी की चक्की में पीसती रही। कुछ तो देशी-विदेशी फौजों में जाते; कुछ बोझिल कुली बनते; अन्य काम की तलाश में सरहद पाकर भारतवर्ष में निम्नतम आय वाले कार्यों में लगते। यहाँ तक कि नेपाल की निरक्षर ग्रामीण लड़कियों को वेश्यावृत्ति में लगाया जाने लगा। शिक्षा तो बढ़ी; परनतु उसके साथ शिक्षित बेरोजगार भी बढ़े। राजनैतिक क्रियाकलापों पर नहीं, सम्प्रेषण और संचार माध्यम पर भी पाबन्दी थी। ऐसी स्थिति में असंतोष का बढ़ना स्वाभाविक था। संशय बढ़ रहा था और बढ़ रही थी जन-चेतना। दूरदराज की जनजातियों में सुगबुगाहट और सामाजिक अस्थिरता बढ़ रही थी। धार्मिक बंधन, सामाजिक रूढ़ियाँ, मुल्की आइन की स्थापना बदलते समय में समाज को बांध रखने में अक्षम सिद्ध हो रही थी। ऊपर से नेपाल के सत्ता सामन्त अपने लुभावने नारे ‘एक देश, एक नरेश, एक भाषा, एक भेष’ की एक रूपल छवि स्थापित करने पर ही तुले थे। इस बार जनता ने अपनी मांगों की फेहरिस्त नहीं बनायी; बल्कि नरेश दम्पत्ति की सार्वजनिक खिल्ली उड़ायी; उनके पुतलों को जूते मारे और राजपरिवार की शाही ऐय्याशी की सार्वजनिक भर्त्सना की। हिन्दू धर्म, नेपाली भाषा और राजशाही के प्रति एक वर्ग ने अपना रोष जताया और जाहिर किया कि यदि ये तीनों नेपाली राष्ट्र के प्रतीक हैं, तो ऐसे राष्ट्र में उनकी कोई साझीदारी सम्भव नहीं है। जनान्दोलन इतना न व्याप्त और उग्र हो चला कि नेपाल नरेश को एक नया संविधान के लिए सहमत होना पड़ा। अब नेपाली जनता और नेपाल नरेश दोनों ही नेपाल के संयुक्त सत्ता-स्तम्भ माने गये। स्वाभाविक है कि प्रजातंत्र की बहाली हुई। चुनाव हुए और मंत्रीमंडलीय व्यवस्था लागू की गयी। नरेश मात्र संवैधानिक राष्ट्राध्यक्ष रह गये। नेपाल को धर्म-निरपेक्ष राज्य माना गया; परन्तु नेपाल को हिन्दू राज्य और हिन्दू धर्म को राजधर्म भी बताया गया।

जनान्दोलन के पहले ही जनजातियों में राजनैतिक सुगबुगाहट आरम्भ हो गयी थी। दूरदराज के पर्वतों और जंगलों में रहने वाली जनजातियाँ नेपाल की स्थापित

संस्कृति - पहाड़ी ब्रम्हण - छेत्री - नेवार - संस्लिष्ठ - में उनकी भागीदारी कम थी। उसी प्रकार नेपाल तराई के 'मधेशी' प्रशासनिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और भाषाई भेदभाव से तंग आ चुके थे। नेपाली हिन्दुओं में अछूत समझी जाने वाली जातियाँ भी सामाजिक प्रताड़ना से आक्रांत थी। इन सबों को अपने पड़ोसी देश भारत में व्याप्त संवैधानिक अवधारणायें अपील करती रहीं, यथा अनुसूचित जनजाति, अनुसूचित जाति और विशेष पिछड़े सीमान्तीय क्षेत्र। फिर क्या था? देखते-देखते नेपाल जनजाति महासंघ (Nepal Federation of Nationalities - NEFEN) की स्थापना हुयी और 59 इकाइयों का यह महासंघ अपने मांगों को लेकर आन्दोलित हो उठा। उसी प्रकार दलित वर्ग भी आगे आया और आन्दोलन के रास्ते पर चल पड़ा। ये आन्दोलन चल ही रहे थे कि नेपाल का साम्यवादी दल (माओवादी) अपने 40 सूत्री मांगों को लेकर सरकार को अल्टीमेटम दे बैठा। परन्तु मांगों की पूर्ति की समय-सीमा समाप्त होने के पहले ही दल ने सशस्त्र क्रान्ति का नारा दिया और सुरक्षा सैनिकों को परास्त कर पश्चिमी सीमान्तीय जनपदों में अपने लिये मुक्त क्षेत्र (Liberated zone) की घोषणा कर डाली। माओवादियों ने अपने को चीनी मुक्तिवाहिनी के समान सशस्त्र वर्दीधारी सैनिकों के रूप में संगठित किया और सरकारी प्रतिष्ठानों और तथाकथित सर्वहारा विरोधी परिवारों की सम्पत्ति को ध्वस्त किया, लूटा, जलाया और विरोध करने पर हत्यायें भी कीं। आवागमन के रास्ते, सरकारी कार्यालय, बैंक, स्कूल, अस्पताल और अन्य संस्थानसभी तोड़फोड़ या जला डाले गये और इन मुक्त क्षेत्रों में मुक्ति अदालतें स्थापित की गयीं।

## द्वितीय जनांदोलन, 2006

दूसरी तरफ प्रजातंत्र का यह हाल था कि 20वीं सदी के अंतिम दशक में कितने प्रधानमंत्री बने, इसका हिसाब रखना बेमानी है क्योंक प्रत्येक चुनाव एक भोंडी प्रतिनिधि सभा पेश करता रहा और सरकारें बनती और गिरती रहीं। ऐसी स्थिति में माओवादियों की चुनौती स्वीकार करे तो कौन? इन सभी विकट समस्याओं से क्षणिक निजात पाने के लिए एक अजीबोगरीब घटना जून 1, 2001 को घटी। रात्रिभोज के दौरान नेपाल नरेश बीरेन्द्र विक्रमशाह अपने समस्त परिवार के साथ एक भीषण गोलीबारी में मारे गए। घायल युवराज दीपेन्द्र ने दूसरे दिन दम तोड़ा। ऐसी स्थिति में मृत नेपाल नरेश के छोटे भाई 56 वर्षीय ज्ञानेन्द्र वीर विक्रम शाह की ताजपोशी सनातनी हिन्दू परम्परा के अनुसार की गयी। स्मरणीय है कि यह वही सज्जन है जिन्हें नवम्बर, 1950 में तत्कालीन राणा प्रधानमंत्री मोहन शमशेर ने नेपाल नरेश त्रिभुवन के भारत पलायन के समय सिंहासनारूढ़ किया था, जो कदम अमान्य हुआ और त्रिभुवन बाजाब्ला नेपाल नरेश बने रहे। अपने अग्रज के सौम्य व्यक्तित्व के विपरीत ज्ञानेन्द्र की जनसाधारण में एक उदंड व्यवसायी की छवि रही है।



सिहानारूढ़ होने के उपरान्त देश की अत्यन्त ही दयनीय स्थिति में ज्वलन्त समस्याओं से जूझने के स्थान पर नये नरेश ने शाही परिवार के वर्चस्व को पुनः प्रतिष्ठापित करने की प्रमुखता दी। एक तरफ तो माओवादी मुक्तक्षेत्र बनाने में व्यस्त थे, तो दूसरी तरफ नरेश ने प्रतिनिधि सभा भंग कर दी; प्रधानमंत्री को निकम्मा बता कर पदच्युत कर दिया और देश का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। महाराजा के इस कदम का चतुर्दिक विरोध हुआ। प्रजातंत्र में विश्वास करने वाली सात राजनैतिक पार्टियों के गठजोड़ ने महाराजा के विरूद्ध जनान्दोलन छेड़ दिया। इस आंदोलन में राजनैतिक कार्यकर्त्ता ही नहीं, वकील, डाक्टर, अध्यापक, व्यवसायी, इंजीनियर, पत्रकार - आदि सभी वर्ग के लोगों ने भाग लिया। उन दिनों पूरे नेपाल में जनजीवन प्रायः ठप्प था। यातायात कर्मियों के आंदोलन में शामिल होने से नेपाल में उपभोक्ता वस्तुओं का अभाव हो चला। पेट्रोल, गैस और मिट्टी के तेल की आपूर्ति प्रायः ठप्प हो चली। सामान्य जनता का जीवन दूभर हो चला और गृहणियों को घर चलाना मुश्किल हो रहा था। इस विकट समस्या की परिणति अप्रैल, 2006 के जनान्दोलन के रूप में हुई। आक्रोशित जनता ने शाही सैनिकों के घेरेबन्दी के बावजूद राजप्रसाद पर धावा बोला। लाठियां चली; आंसू गैस छोड़े गये, गोलियां भी चली; परन्तु जनता पीछे नहीं मुड़ी। लाचार नेपाल नरेश को प्रतिनिधि सभा बहाल करनी पड़ी; वयोवृद्ध गिरिजा प्रसाद कोईराला को प्रधानमंत्री बनाकर प्रशासन सौंपना पड़ा। सात राजनैतिक दलों के गठजोड़ ने एक अंतरीय सरकार बनायी। और तो और, माओवादियों को समझाबुझा कर सरकार और संसद में भाग लेने पर राजी किया गया और उनसे हथियार डलवाये गये।

## अन्तरिम सरकार, कामचलाऊ संविधान और वंचितों की समस्या

द्वितीय जनान्दोलन ने नेपाल की परम्परागत छवि ही बदलकर रख दी। जनता की मांग पर नयी सरकार ही नहीं बनी, भंग की हुई प्रतिनिधि सभा भी बहाल कर दी गयी। काफी विचार-विमर्श के बाद एक अंतरीय संविधान 15 जनवरी, 2007 को लागू किया गया। नये संविधान के अनुसार नेपाल एक धर्मनिरपेक्ष, सर्वसमावृत्ति और पूर्ण प्रजातांत्रिक राज्य होगा। तत्कालीन एकल और केन्द्रीकृत (Centralized and unitary form) पद्धति को समाप्त कर एक सार्वभौम, प्रजातांत्रिक और प्रगतिशील राज्य (an inclusive, democratic and progressive restructuring of the state) की संरचना करने का भार नयी संविधान निर्मात्री सभा को दिया गया। संविधान सभा के संगठन के लिए एक मिश्रित व्यवस्था की कल्पना की गयी, जिसमें 330 सदस्यों की अंतरिम प्रतिनिधि सभा (पुराने प्रतिनिधि सभा के निर्वाचित सदस्य - 209 नये नामजद माओवादी - 73 विभिन्न नगरीक संस्थाओं के आठ राजनैतिक दलों द्वारा चुने हुये

प्रतिनिधि - 48) और अन्य विभिन्न सामाजिक गणकों के आनुपातिक प्रतिनिधि - कुल 330 होंगे। इस व्यवस्था के प्रति तराई निवासी मधेशियों ने सख्त एतराज किया। उनके अनुसार पुरानी प्रतिनिधि सभा यथार्थ सामाजिक अनुपात के अनुसार नहीं है और उसमें तराई की उपेक्षा का पहाड़ियों की प्रमुखता है। उदाहरणस्वरूप 330 सदस्यों की प्रतिनिधि सभा में मात्र 121 सदस्य तराई क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनमें भी मात्र 55 मदेशी हैं। स्वाभाविक है कि ऐसी प्रतिनिधि सभा मदेशियों के हितों की रक्षा नहीं कर पायेगी। ऐसी उथल-पुथल की स्थिति में मदेशी समुदाय अपने भविष्य के प्रति चिन्तित हो अदिग्न हो उठा। मदेशियों का पिछला अनुभव जाहिर करता है कि नेपाल के विभिन्न दलों के नेता नेपाली राष्ट्रीयता को पहाड़ी संस्कृति से जोड़कर देखने के आदी हैं। फलस्वरूप मदेशी हितों की जानबूझकर अनदेखी कर दी जाती हे। इस बार कुछ ऐसी मानसिकता बनी कि 'करो या मरो' की स्थिति आ गयी। प्रायः सभी नेपाली राष्ट्रीय दलों के मदेशी नेताओं ने अपने दलों का त्याग कर मदेशी समुदाय के साथ जुड़ना श्रेयकर समझा।

स्मरणीय है कि नेपाली कांग्रेस का 1950 संग्राम तराई से ही आरम्भ हुआ था और तराई निवासियों के बल पर ही कांग्रेस प्रमुख दल बन पाया। उसी प्रकार विभिन्न साम्यवादी दलों के मुख्य समर्थक मदेशी ही थे। यहां तक 2002 में माओवादियों ने मधेशी राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (Madesi National Liberation Front : MNLF) बनाकर मदेशियों का समर्थन पाने का प्रयास किया था। नेपाल नरेश का वर्चस्व तो समाप्त प्राय था; परन्तु इस अनिश्चिय की स्थिति में उपरोक्त राष्ट्रीय दलों के नेता फिर वही पुराने अंदाज में मधेशी हितों को अनदेखी किये जा रहे थे। अपनी उचित आवाज की अपेक्षा होते देख मधेशियों ने शीघ्र ही मधेशी जनाधिकार फोरम (Madeshi Janadhikar Forum - MFJ) के साझा मंच के माध्यम से अपना आन्दोलन जारी रखा। फिर तो तराई मुक्ति मोर्चा (Janatantrik Tarai Mukti Morcha - Jawala Singh and Goit Factions) के हथियारबन्द दो दलों ने मैदान सम्भाला। नेपाल सरकार, विशेषकर उसके गृहमंत्री ने मधेशी जनाक्रोश को असामाजिक तत्वों, प्रतिक्रियावादियों की शरारत, राजशाही के दलालों की साजिश या (भारतीय) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंधित देशद्रोहियों का षड्यंत्र बताया। माओवादियों ने, जो अब तक सरकार में भागीदार बन चुके थे, पूरे मधेशी आक्रोश को असामाजिक तत्वों की शरारत बताया। फिर तो देखते-देखते मदेशी आक्रोश चिंतनीय हिंसा में बदल गया। सुरक्षा कर्मियों के बल प्रयोग का उल्टा असर हुआ। मार्च, 2007 में माओवादियों और मदेशी जनाधिकार फोरम के बीच भिडंत हुई जिसमें मदेशियों ने लाठियों से अपने प्रतिद्वन्द्वियों का स्वागत किया। फलस्वरूप 27 जनों ने जान गवायीं और 47 बुरी तरह घायल हुये। लाचार प्रधानमंत्री कोइराला को मधेशियों की कुछ मांगों को मानना पड़ा, यथा नागरिकता संबंधी मांग।



कई बार स्थगित होने के बाद अप्रैल 10, 2008 को संविधान सभा के लिए चुनाव हुये। परिणाम कुछ ऐसे आये कि सारी दुनिया चौंक उठी। कल के हथियारबन्द हिंसक माओवादी तीस प्रतिशत मत और लगभग आधे निर्वाचित स्थानों पर जीत कर सरकार बनाने के दावेदार बन बैठे। कल तक नेपाली राजनीति की मुख्यधारा के दल - नेपाली कांग्रेस और साम्यवादी पार्टी - 21.14 प्रतिशत और 20.33 प्रतिशत मत पाकर क्रमशः दूसरे और तीसरे स्थान पर आये। परन्तु इन तीनों दलों के बाद मदेशी जनतांत्रिक मोर्चा (MJF) का आना नेपाली राजनीति के परम्परागत खिलाड़ियों को नागवार लगा। ऊपर से तुर्रा ये कि तराई मदेश लोकतांत्रिक पार्टी, नेपाल सद्भावना पार्टी तथा अन्य तत्व भी मदेशी अधिकारों के पक्षधर के रूप में संविधान सभा में उपस्थित होंगे। काफी जदोजहद के बाद माओवादी नेता पुष्प कमल दहान 'प्रचंड' ने दूसरी अन्तरीय सरकार बनायी। इस नयी सरकार को राजशाही से सम्भाविक प्रजातांत्रिक संक्रमण की तैयारी और देश के लिये नये संविधान बनाने की जिम्मेदारी निभानी है।

नयी सरकार के बनते-न-बनते अंतिम नेपाल नरेश ज्ञानेन्द्र को राजप्रसाद छोड़ना पड़ा। राजशाही के अन्त के बाद राष्ट्राध्यक्ष के पद के लिए राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति की परिकल्पना की गयी। माओवादी संवैधानिक सरकार तो बना पाये, परन्तु मुख्य विषयों पर राष्ट्रीय सहमति नहीं बना पाये। दूसरे जनान्दोलन ने जो ज्वलन्त प्रश्न उठाये थे, उनका समाधान पाना कठिन हो रहा है और माओवादी अपनी मान्यताओं और कार्यशैली से सभी राजनैतिक विचारधाराओं को साथ लेकर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। समझौते के विपरीत माओवादी युवक मोर्चा (Young Communist League) अभी भी हथियारबन्द है; माओवादियों ने अपने सभी हथियार राष्ट्रसंघ के केन्द्र को नहीं सौंपे हैं; जनता की लूटी हुई सम्पत्ति माओवादियों ने वापस नहीं की है; माओवादी गोरिल्ले नेपाली सेना में विलीन नहीं हुए हैं और मदेशियों और जनजातियों की समस्यायें ज्यों की त्यों पड़ी हुई हैं। इस प्रकार आधुनिक नेपाल में माओवादी खुद ही एक समस्या बने पड़े हैं। फिर भी सभी कुछ स्थिर नहीं है। राणाशाही के अन्त के 6 दशकों में ही शाहवंश का सफाया हो गया। उसी प्रकार छः दशक पुराना संविधान बनाने का सपना पूरा होता दिख रहा है। सत्ता सुख से वंचित जनजातियों के सदस्य मंत्री परिषद के सदस्य हैं। और कल तक के तिरस्कृत मदेशी आज नेपाल के तीन प्रमुख पदों पर आसीन है : राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और परराष्ट्रमंत्री। परंतु जटिल प्रश्न सामने मुंह बाये खड़ा है : राजतंत्र तो गया, परन्तु अब कौन सा तंत्र आयेगा : प्रजातंत्र या माओतंत्र?

## नयी दिशायें और नयी समस्यायें

नेपाल एक अभूतपूर्व संक्रमण काल से गुजर रहा है। पिछले वर्षों में नेपाली पटल पर अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं। प्राचीन गौरव स्तम्भ एक के बाद धराशायी हो

चले हैं और नये राष्ट्रीय प्रतीकों की तलाश जारी है। राणाओं के क्रूर अमानवीय क्रियाकलाप उनके पतन के बाद भुला दिये गये। शाहवंशीय गोरखा नरेशों की गाथाएं उनकी विजय अभियान के किस्से, उनका नेपाल को एकमात्र हिन्दू राजतंत्र थे प्रतिष्ठित करना तथा नरेश का भगवान विष्णु के रूप में सम्मानित होनासभी राजवंश के अन्त के बाद अनाकर्षक अनर्गल सा लगता है। अब तो जनजातियाँ और तराई के मधेशी नेपाल की राष्ट्रभाषा को भी राष्ट्र प्रतीक रूप में मानने को तत्पर नहीं है। परन्तु पहाड़ी मूल के सत्ता-सामन्तों की परम्परागत धारणायें नहीं बदले पा रही हैं। नयी सरकार के सामने विधान निर्माण निश्चित रूप से अत्यावश्यक हे। साथ ही साथ अन्य विकट समस्यायें टाली नहीं जा सकती : यथा आर्थिक और सामाजिक संरचना; आवागमन के संसाधनों का पुर्ननिर्माण और न्याय और सम्मान से वंचित मदेशियों और जनजातियों को राष्ट्र की मुख्यधारा में सहभागी बनाना। नेपाली राष्ट्र के इन दो समुदायों को पहाड़ी मूल के परम्परागत सत्ता सामंतों के वादों पर विश्वास नहीं होता, क्योंकि पिछले 6 दशकों से इनके साथ वादाखिलाफी की जाती रही है। ऐसा क्यों होता रहा?

स्मरणीय है कि नेपाली राष्ट्रीय मानस जनजातियों और मदेशियों को सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से नेपाली राष्ट्रीयता के पहाड़ी स्वरूप का अपवाद मानता है। स्वाभाविक है कि उपरोक्त समुदाय भी भेष भाषा, व्यवहार और प्रचलन में अपने को पहाड़ी परम्परा से अलग पाते हैं। इस प्रकार एक मानसिक खाई दोनों के बीच उपस्थित है। इस मानसिक दुराव के पीछे इतिहास खड़ा है। पृथ्वी नारायण शाह ने आपके राज्य को ''असग हिन्दुस्तान'' बताया और भारत को दूषित 'मुगलान'। तीर्थाटन, व्यापार या विवाह आदि अवसरों पर भारत भ्रमण के उपरान्त सनातनी नेपाली अपना शुद्धिकरण करते रहे। गोरखा सैनिकों के बहादुरी के गीत गाये गये; परन्तु वे ही गोरखे स्वतंत्रता सेनानियों पर अंग्रेजों के ढाल बने और इसे भुला दिया गया। नेपाल में प्रजातंत्र की लड़ाई में भारतीयों और भारत सरकार का योग भुला दिया गया। मदेशियों की अपनी मान्यता है कि वे हिन्दी भाषी है और उन्हें हिन्दी प्रयोग करने के पूरा अधिकार है। परन्तु नेपाल इसकी मान्यता नहीं देता। मदेशियों को परस्पर विभाजन करने के लिए उन्हें मैथिली, अवधी और भोजपुरी भाषी बताया जाता है। भगवान बुद्ध, जनक, राम, कृष्ण, और पौराणिक और ऐतिहासिक विभूतियाँ भारतीय संस्कृति की धरोहर हैं। परन्तु उन पर जितना भारत का हक है, उतना नेपाल का, बर्मा का, श्रीलंका का, तिब्बत, चीन या मंगोलिया आदि का है। उन्हें राष्ट्रीय सीमाओं में बांधना उनकी महता कम करना हुआ। क्या ईसा मसीह इजरायल के हैं या ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका या किसी अन्य देश के? कभी कभी लगता है कि नेपाल का बुद्धिजीवीवर्ग अपने नये राष्ट्रीय प्रतीकों की तलाश में व्यस्त है। कुछ स्वीकारात्मक स्तम्भ नहीं पाकर अपनी खीझ भारत के प्रति नकारात्मक रूप में प्रकट करता रहता



है। गाहे-बगाहे बिना किसी वस्तुपरक कारण के भारतविरोधी लहर उठती है। कभी किसी फिल्मी अदाकार के पुतले जलाए जाते हैं और बाद में पता लगता है कि पूरी पहल अफवाह पर आधारित थी। अधकचरे नेपाली बुद्धिजीवी बृहद् नेपाल की परिकल्पना कर हिमाचल से सिक्किम तक के हिमालयी क्षेत्रों को भारतीय संघ से वापस लेना चाहते हैं। भले ही इन क्षेत्रों पर 1779 से 1814 तक नेपाल मात्र 15 से 45 वर्ष ही शासन किया हो। कभी अपने ही निर्वाचित उपराष्ट्रपति के हिन्दी उद्बोधन का विरोध करते हैं या किसी फिल्मी मशखरे के भगवान बुद्ध को भारतीय कहने पर हाय-तौबा मचता है। मदेशी समस्या के समाधान के मार्ग में, नेपाली जनमानस की यही मानसिकता रोड़े का काम कर रही है। स्पष्ट है कि राजशाही के पतन के साथ नेपाली मानसिकता नहीं बदल पायी है। नये नेपाल को खुलेपन से अपना चुनाव करना है कि रातजंत्र के अन्त के बाद किस राह पर चलना है : प्रतिगामी तंत्र, लोकतंत्र, माओतंत्र या कोई अन्य अधिनायकतंत्र?

## संदर्भ ग्रन्थ

1. Chatterjee, Bhola, A study of Recent Nepalese Politics, The World Press Pvt. Ltd., Calcutta, 1967
2. Chatterjee, Bhola, Palace, People and Politics, Ankur Publishing House, New Delhi, 1980
3. Hofer, Andras, The Caste Hierarchy and the State in Nepal : A study of the Mulki Ain of 1854, Himal Books, Lalitpur, Nepal, 2nd Edition, 2004.
4. Koirala, B.P., Atmabritant : Late Life Recollections, Himal Books, Lalitpur, Nepal, 2001.
5. Stiller, Ludwig, Silent Cry : The People of Nepal, 1816-1846, Kathmandu, Sahyogi, 1973.
6. Renu, Phanishwar Nath, Kranti Katha (Hindi), Raj Kamal Prakashan, New Delhi, 1977.
7. Whelpton, John, A History of Nepal, Cambridge University Press, Cambridge, UK, 2005.
   Various Issues of *Himal South Asia*, Monthly Journal, The South Asia Trust, Lalitpur, Nepal.

# छुटकारा*

## महात्मा गांधी

**प्रश्न :** आपके विचारों से ऐसा लगता है कि आप एक तीसरा ही पक्ष कायम करना चाहते हैं। आप एक्स्ट्रीमिस्ट भी नहीं हैं और मॉडरेट भी नहीं है।

**उत्तर :** यहाँ आपकी भूल होती है। मेरे मन में तीसरे पक्ष का कोई खयाल नहीं है। सबके विचार एक से नहीं रहते। मॉडरेटों में भी सब एक ही विचार के हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। जिसे (लोगों की) सेवा ही करनी है उसके लिए पक्ष कैसा? मैं तो मॉडरेटों की सेवा करूँगा और एक्स्ट्रीमिस्टों की भी करूँगा। जहाँ उनके विचार से मेरी राय अलग पड़ेगी वहाँ मैं उन्हें नम्रता से बताऊँगा और अपना काम करता चलूँगा।

**प्रश्न :** अगर आप दोनों से कहना चाहें तो क्या कहेंगे?

**उत्तर :** एक्स्ट्रीमिस्टों से मैं कहूँगा कि आपका हेतु हिन्दुस्तान के लिए स्वराज्य हासिल करने का है। स्वराज्य आपकी कोशिश से मिलने वाला नहीं है। स्वराज्य तो सबको अपने लिए पाना चाहिएऔर सबको उसे अपना बनाना चाहिए। दूसरे लोग जो स्वराज्य दिला दें वह स्वराज्य नहीं है, बल्कि परराज्य है। इसलिए सिर्फ अंग्रेजों को बाहर निकाला कि आपने स्वराज्य पा लिया, ऐसा अगर आप मानते हों तो वह ठीक नहीं है। सच्चा स्वराज्य जो मैंने पहले बताया वही होना चाहिए। उसे आप गोला-बारूद से कभी नहीं पायेंगे। गोला-बारूद हिन्दुस्तान को सधेगा नहीं। इसलिए सत्याग्रह पर ही भरोसा रखिये। मन में ऐसा शक भी पैदा न होने दीजिए कि स्वराज्य पाने के लिए हमें गोला-बारूद की जरूरत है।

मॉडरेटों से मैं कहूँगा कि हम खाली आजिजी करना चाहें, यह तो हमारी हीनता होगी। उसमें हम अपना हलकापन कबूल करते हैं। 'अंग्रेजों से सम्बन्ध रखना हमारे लिए जरूरी है', ऐसा कहना हमारे लिए ईश्वर के चोर बनने जैसा हो जाता है। हमें ईश्वर के सिवा और किसी की जरूरत है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। और साधारण विचार करने से भी हमें लगेगा कि 'अंग्रेजों के बिना आज तो हमारा काम चलेगा ही नहीं', ऐसा कहना अंग्रेजों को अभिमानी बनाने जैसा होगा।

* महात्मा गांधी के 'हिन्द स्वराज' (अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी द्वारा अनुदित 'हिन्द स्वराज्य; सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी) से साभार



अंग्रेज बोरिया-बिस्तर बाँधकर अगर चले जायेंगे, तो हिन्दुस्तान अनाथ हो जायगा ऐसा नहीं मानना चाहिए। अगर वे गये तो संभव है कि जो लोग उनके दबाव से चुप रहे होंगे वे लड़ेंगे। फोड़े को दबाकर रखने से कोई फायदा नहीं। उसे तो फूटना ही चाहिए। इसलिए अगर हमारे भाग में आपस में लड़ना ही लिखा होगा तो हम लड़ मरेंगे। उसमें कमजोर को बचाने के बहाने किसी दूसरे को बीच में पड़ने की जरूरत नहीं है। इसी से तो हमारा सत्यानाश हुआ है। इस तरह कमजोर को बचाना उसे और भी कमजोर बनाने जैसा है। मॉडरेटों को इस बात पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए। इसके बिना स्वराज्य नहीं प्राप्त हो सकता। मैं उन्हें एक अंग्रेज पादरी के शब्दों की याद दिलाऊँगा : ''स्वराज्य में अंधाधुंधी बरदाश्त की जा सकती है, लेकिन परराज्य की व्यवस्था हमारी कंगाली को बताती है।'' सिर्फ उस पादरी के स्वराज्य का और हिन्दुस्तान के स्वराज्य का अर्थ अलग है। हम किसी का भी जुल्म या दबाव नहीं चाहतेचाहे वह गोरा हो या हिन्दुस्तानी हो। हम सबको तैरना सीखना और सिखाना है।

अगर ऐसा हो तो एक्स्ट्रीमिस्ट और मॉडरेट दोनों मिलेंगेमिल सकेंगेदोनों को मिलना चाहिए; दोनों को एक-दूसरे का डर रखने की या अविश्वास करने की जरूरत नहीं हे।

**प्रश्न :** इतना तो आप दोनों पक्षों से कहेंगे। परन्तु अंग्रेजों से क्या कहेंगे?

**उत्तर :** उनसे मैं विनय से कहूँगा कि आप हमारे राजा जरूर हैं। आप अपनी तलवार से हमारे राजा हैं या हमारी इच्छा से, इस सवाल की चर्चा मुझे करने की जरूरत नहीं। आप हमारे देश में रहें, इसका भी मुझे द्वेष नहीं है। लेकिन राजा होते हुए भी आपको हमारे नौकर बनकर रहना होगा। आपका कहा हमें नहीं, बल्कि हमारा कहा आपको करना होगा। आज तक आप इस देश से जो धन ले गये, वह भले आपने हजम कर लिया। लेकिन अब आगे आपका ऐसा करना हमें पसन्द नहीं होगा। आप हिन्दुस्तान में सिपाहगिरी करना चाहें तो रह सकते हैं। हमारे साथ व्यापार करने का लालच आपको छोड़ना होगा। जिस सभ्यता की आप हिमायत करते हैं उसे हम नुकसानदेह मानते हैं। अपनी सभ्यता को हम आपकी सभ्यता से कहीं ज्यादा ऊँची समझते हैं। आपको भी ऐसा लगे तो उसमें आपका लाभ ही है। लेकिन ऐसा न लगे तो भी आपको, आपकी ही कहावत के मुताबिक, हमारे देश में हिन्दुस्तानी होकर रहना होगा। आपको कुछ ऐसा नहीं करना चाहिए, जिससे हमारे धर्म को बाधा पहुँचे। राजकर्ता होने के नाते आपका फर्ज है कि हिन्दुओं की भावना का आदर करने के लिए आप गाय का मांस खाना छोड़ दें और मुसलमानों के खातिर बुरे जानवर (सूअर) का मांस खाना छोड़ दें। हम दब गये थे इसलिए बोल नहीं सके, लेकिन आप ऐसा न समझें कि आपके इस बरताव से हमारी भावनाओं को चोट नहीं पहुँची है। हम स्वार्थ या दूसरे भय से आजतक कह नहीं सके, लेकिन अब यह कहना हमारा फर्ज हो गया है। हम मानते हैं कि आपकी कायम की हुई शालाएँ और अदालतें हमारे किसी काम

की नहीं है। उनके बजाय हमारी पुरानी असली शालाएँ और अदालतें ही हमें चाहिए।

हिन्दुस्तान की आम भाषा अंग्रेजी नहीं, बल्कि हिन्दी है। वह आपको सीखनी होगी और हम तो आपके साथ अपनी भाषा में ही व्यवहार करेंगे।

आप रेलवे और फौज के लिए बेशुमार रुपये खर्च करते हैं, यह हमसे देखा नहीं जाता। हमें उसकी जरूरत नहीं मालूम होती। रूस का डर आपको होगा, हमें नहीं है। रूसी आयेंगे तब हम उनसे निबट लेंगे; आप होंगे तो हम दोनों मिलकर उनसे निबट लेंगे। हमें विलायती या यूरोपी कपड़ा नहीं चाहिए। इस देश में पैदा होने वाली चीजों से हम अपना काम चला लेंगे। आपकी एक आँख मैन्चेस्टर पर और दूसरी हम पर रहे यह अब नहीं पुसायेगा। आपका और हमारा स्वार्थ एक ही है, इस तरह आप बरतेंगे तभी हमारा साथ बना रह सकता है।

आपसे यह सब हम बेअदबी से नहीं कह रहे हैं। आपके पास हथियार-बल है, भारी जहाजी सेना है। उसके खिलाफ वैसी ही ताकत से हम नहीं लड़ सकते। लेकिन आपको अगर ऊपर कही हुई बात मंजूर न हो, तो आपसे हमारी नहीं बनेगी। आपकी मरजी में आये तो और मुमकिन हो तो आप हमें तलवार से काट सकते हैं, मरजी में आये तो हमें तोप से उड़ा सकते हैं। हमें जो पसंद नहीं है वह अगर आप करेंगे, तो हम आपकी मदद नहीं करेंगे; और बगैर हमारी मदद के आप एक कदम भी नहीं चल सकेंगे।

संभव है कि अपनी सत्ता के मद में हमारी इस बात को आप हँसी में उड़ा दें। आपका हँसना बेकार है, ऐसा आज शायद हम नहीं दिखा सकें। लेकिन अगर हममें कुछ दम होगा तो आप देखेंगे कि आपका मद बेकार है और आपका हँसना (विनाशकाल की) विपरीत बुद्धि की निशानी है।

हम मानते हैं कि आप स्वभाव से धार्मिक राष्ट्र की प्रजा हैं। हम तो धर्मस्थान में ही बसे हुए हैं। आपका और हमारा कैसे साथ हुआ, इसमें उतरना फिजूल है। लेकिन अपने इस सम्बन्ध का हम दोनों अच्छा उपयोग कर सकते हैं।

आप हिन्दुस्तान में आने वाले जो अंग्रेज है वे अंग्रेज प्रजा के सच्चे नमूने नहीं हैं, और हम जो आधे अंग्रेज जैसे बन गये हैं वे भी सच्ची हिन्दुस्तानी प्रजा के नमूने नहीं कहे जा सकते। अंग्रेज प्रजा को अगर आपकी करतूतों के बारे में सब मालूम हो जाय, तो वह आपके कामों के खिलाफ हो जाय। हिन्द की प्रजा ने तो आपके साथ संबंध थोड़ा ही रखा है। आप अपनी सभ्यता को, जो दरअसल बिगाड़ करने वाली है, छोड़कर अपने धर्म की छानबीन करेंगे, तो आपको लगेगा कि हमारी माँग ठीक है। इसी तरह आप हिन्दुस्तान में रह सकते हैं। अगर उस ढंग से आप यहाँ रहेंगे तो आपसे हमें जो थोड़ा सीखना है वह हम सीखेंगे, और हमसे आपको जो बहुत सीखना है वह आप सीखेंगे। इस तरह हम (एक-दूसरे से) लाभ उठायेंगे और सारी दुनिया को लाभ पहुँचायेंगे। लेकिन यह तो तभी हो सकता है, जब हमारे संबंध की जड़ धर्मक्षेत्र में जमे।



**प्रश्न :** राष्ट्र से आप क्या कहेंगे?

**उत्तर :** राष्ट्र कौन?

**प्रश्न :** अभी तो आप जिस अर्थ में यह शब्द काम में लेते हैं उसी अर्थवाला राष्ट्र, यानी जो लोग यूरोप की सभ्यता में रँगे हुए हैं, जो स्वराज्य की आवाज उठा रहे हैं।

**उत्तर :** इस राष्ट्र से मैं कहूँगा कि जिस हिन्दुस्तानी को (स्वराज्य की) सच्ची खुमारी यानी मस्ती चढ़ी होगी, वही अंग्रेजों से ऊपर की बात कह सकेगा और उनके रोब से नहीं दबेगा।

सच्ची मस्ती तो उसी को चढ़ सकती है, जो ज्ञानपूर्वकसमझ-बूझकरयह मानता हो कि हिन्द की सभ्यता सबसे अच्छी है और यूरोप की सभ्यता चार दिन की चाँदनी है। वैसे सभ्यताएँ तो आज तक कई हो गयीं और मिट्टी में मिल गयीं; आगे भी कई होंगी और मिट्टी में मिल जायँगी।

सच्ची खुमारी उसी को हो सकती है, जो आत्मबल अनुभव करके शरीर-बल से नहीं दबेगा और निडर रहेगा तथा सपने में भी तोप-बल का उपयोग करने की बात नहीं सोचेगा।

सच्ची खुमारी उसी हिन्दुस्तानी को रहेगी, जो आज की लाचार हालत से बहुत ऊब गया होगा और जिसने पहले से ही जहर का प्याला पी लिया होगा।

ऐसा हिन्दुस्तानी अगर एक ही होगा, तो वह भी ऊपर की बात अंग्रेजों से कहेगा और अंग्रेजों को उसकी बात सुननी पड़ेगी।

ऊपर की माँग माँग नहीं है, वह हिन्दुस्तानियों के मन की दशा को बताती है। माँगने से कुछ नहीं मिलेगा; वह तो हमें खुद लेना होगा। उसे लेने की हममें ताकत होनी चाहिए। यह ताकत उसी में होगी :

(1) जो अंग्रेजी भाषा का उपयोग लाचारी से ही करेगा।

(2) जो वकील होगा तो अपनी वकालत छोड़ देगा और खुद घर में चरखा चलाकर कपड़े बुन लेगा।

(3) जो वकील होने के कारण अपने ज्ञान का उपयोग सिर्फ लोगों को समझाने और लोगों की आँखें खोलने में करेगा।

(4) जो वकील होकर वादी-प्रतिवादीमुद्दई और मुद्दालेहके झगड़ों में नहीं पड़ेगा, अदालतों को छोड़ देगा और अपने अनुभव से दूसरों को अदालतें छोड़ने के लिए समझायेगा।

(5) जो वकील होते हुए भी जैसे वकालत छोड़ेगा वैसे न्यायाधीशपन भी छोड़ेगा।

(6) जो डॉक्टर होते हुए भी अपना पेशा छोड़ेगा और समझेगा कि लोगों की चमड़ी चोंथने के बजाय बेहतर है कि उनकी आत्मा को छुआ जाय और

उसके बारे में शोध-खोज करके उन्हें तंदुरुस्त बनाया जाय।

(7) जो डॉक्टर होने से समझेगा कि खुद चाहे जिस धर्म का हो, लेकिन अंग्रेजी वैदकशालाओंफार्मसियोंमें जीवों पर जो निर्दयता की जाती है, वैसी निर्दयता से (बनी हुई दवाओं से) शरीर को चंगा करने के बजाय बेहतर है कि शरीर रोगी रहे।

(8) जो डॉक्टर होने पर भी खुद चरखा चलायेगा और जो लोग बीमार होंगे उन्हें उनकी बीमारी का सही कारण बताकर उसे दूर करने के लिए कहेगा; निकम्मी दवाएँ देकर उन्हें गलत लाड़ नहीं लड़ायेगा। वह तो यही समझेगा कि निकम्मी दवाएँ न लेने से बीमार की देह अगर गिर भी जाय, तो उससे दुनिया अनाथ नहीं हो जायगी, और यही मानेगा कि उसने बीमार पर सच्ची दया की है।

(9) जो धनी होने पर भी धन की परवाह किये बिना अपने मन में होगा वही कहेगा और बड़े-से-बड़े सत्ताधीश की भी परवाह न करेगा।

(10) जो धनी होने से अपना रुपया चरखे चालू करने में खरचेगा और खुद सिर्फ स्वदेशी माल का इस्तेमाल करके दूसरों को भी ऐसा करने के लिए बढ़ावा देगा।

(11) दूसरे हर हिन्दुस्तानी की तरह जो यह समझेगा कि यह समय पश्चात्ताप का, प्रायश्चित्त का और शोक का है।

(12) जो दूसरे हर हिन्दुस्तानी की तरह यह समझेगा कि अंग्रेजों का कसूर निकालना बेकार है। हमारे कसूर की वजह से वे हिन्दुस्तान में आये, हमारे कसूर के कारण ही वे यहाँ रहते हैं और हमारा कसूर दूर होगा तब वे यहाँ से चले जायेंगे या बदल जायेंगे।

(13) दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह जो समझेगा कि मातम के वक्त मौज-शौक नहीं हो सकते। जब तक हमें चैन नहीं है तब तक हमारा जेल में रहना या देशनिकाला भोगना ही ठीक है।

(14) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि लोगों को समझाने के बहाने जेल में न जाने की खबरदारी रखना निरा मोह है।

(15) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि कहने से करने का असर अद्भुत होता है; हम निडर होकर जो मन में है वही कहेंगे और इस तरह कहने का जो नतीजा आये उसे सहेंगे, तभी हम अपने कहने का असर दूसरों पर डाल सकेंगे।

(16) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह यह समझेगा कि हम दुख सहन करके ही बंधन यानी गुलामी से छूट सकेंगे।

(17) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह समझेगा कि अंग्रेजों की सभ्यता को



बढ़ावा देकर हमने जो पाप किया है, उसे धो डालने के लिए अगर हमें मरने तक भी अंदमान में रहना पड़े, तो वह कुछ ज्यादा नहीं होगा।

(18) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह समझेगा कि कोई भी राष्ट्र दुख सहन किये बिना ऊपर चढ़ा नहीं है। लड़ाई के मैदान में भी दुख ही कसौटी होता है, न कि दूसरे को मारना। सत्याग्रह के बारे में भी ऐसा ही है।

(19) जो दूसरे हिन्दुस्तानियों की तरह समझेगा कि यह कहना कुछ न करने के लिए एक बहाना भर है कि 'जब सब लोग करेंगे तब हम भी करेंगे।' हमें ठीक लगता है इसलिए हम करें, जब दूसरों को ठीक लगेगा तब वे करेंगेयही करने का सच्चा रास्ता है। अगर मैं स्वादिष्ट भोजन देखता हूँ, तो उसे खाने के लिए दूसरे की राह नहीं देखता। ऊपर कहे मुताबिक प्रयत्न करना, दुख सहना यह स्वादिष्ट भोजन है। ऊबकर लाचारी से करना या दुख सहना निरी बेगार है।

**प्रश्न :** सब ऐसा कब करेंगे और कब उसका अंत आयेगा?

**उत्तर :** आप फिर भूलते हैं। सबकी न तो मुझे परवाह है, न आपको होनी चाहिए। 'आप अपना देख लीजिए, मैं अपना देख लूंगा'यह स्वार्थ-वचन माना जाता है, लेकिन यह परमार्थ-वचन भी है। मैं अपना उजालूंगाअपना भला करूँगा, तभी दूसरे का भला कर सकूँगा। अपना कर्तव्य मैं कर लूँ, इसी में काम की सारी सिद्धियाँ समायी हुई हैं।

आपको विदा करने से पहले फिर एक बार मैं यह दोहराने की इजाजत चाहता हूँ कि :

(1) अपने मन का राज्य स्वराज्य है।

(2) उसकी कुंजी सत्याग्रह, आत्मबल या करुणा-बल है।

(3) उस बल को आजमाने के लिए स्वदेशी को पूरी तरह अपनाने की जरूरत है।

(4) हम जो करना चाहते हैं वह अंग्रेजों के लिए (हमारे मन में) द्वेष है इसलिए या उन्हें सजा देने के लिए न करें, बल्कि इसलिए करें कि ऐसा करना हमारा कर्तव्य है। मतलब यह कि अंग्रेज अगर नमक-महसूल रद्द कर दें, लिया हुआ धन वापस कर दें, सब हिन्दुस्तानियों को बड़े-बड़े ओहदे दे दें और अंग्रेजी लश्कर हटा लें, तो हम उनकी मिलों का कपड़ा पहनेंगे, या अंग्रेजी भाषा काम में लायेंगे, या उनकी हुनर-कला का उपयोग करेंगे सो बात नहीं है। हमें यह समझना चाहिए कि वह सब दरअसल न करने जैसा है, इसलिए हम उसे नहीं करेंगे।

मैंने जो कुछ कहा है वह अंग्रेजों के लिए द्वेष होने के कारण नहीं, बल्कि उनकी सभ्यता के लिए द्वेष होने के कारण कहा है।

मुझे लगता है कि हमने स्वराज्य का नाम तो लिया, लेकिन उसका स्वरूप हम नहीं समझे हैं। मैंने उसे जैसा समझा है वैसा यहाँ बताने की कोशिश की है।

मेरा मन गवाही देता है कि ऐसा स्वराज्य पाने के लिए मेरा यह शरीर समर्पित है।

## चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

### फार्म 4

### नियम 8

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | प्रकाशन स्थान | : | दिल्ली |
| 2. | प्रकाशन अवधि | : | त्रैमासिक |
| 3. | स्वामी | | आस्था भारती, नई दिल्ली |
| 4. | मुद्रक | : | डॉ. बी. बी. कुमार<br>सचिव, आस्था भारती |
| | (क्या भारत के निवासी हैं?) | | हाँ, भारतीय |
| | पता | | 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट<br>मयूर विहार फेस-1 विस्तार<br>दिल्ली-110096 |
| 5. | प्रकाशक | : | डॉ. बी. बी. कुमार<br>सचिव, आस्था भारती |
| | (क्या भारत के निवासी हैं?) | | हाँ, भारतीय |
| | पता | | 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट<br>मयूर विहार फेस-1 विस्तार<br>दिल्ली-110096 |
| 6. | सम्पादक | : | डॉ. बी. बी. कुमार<br>सचिव, आस्था भारती |
| | (क्या भारत के निवासी हैं?) | | हाँ, भारतीय |
| | पता | | 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट<br>मयूर विहार फेस-1 विस्तार<br>दिल्ली-110096 |

मैं डॉ. बी. बी. कुमार घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. बी. बी. कुमार

25.3.2009 प्रकाशक





# वर्णमाला, भाषा और शिक्षा*

## राम मनोहर लोहिया

6 जून, 1958 को मैंने लिखा : “काला पहाड़ पर एक लेख तैयार करने के लिए अपने गुरु सेन से कहो। वे न कर सकें, तो आप करो। ऐसा लगता है कि 1. लोगों को खदेड़ देने और उनके पश्चात्ताप करने पर भी उन्हें स्वीकार न करने वाले हिन्दू कट्टरवाद, 2. मुसलिम कट्टरवाद के ये अत्यन्त स्पष्ट चरित्र थे। किसी तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए इतिहास कभी-कभी पात्रों का निर्माण करता है और काला पहाड़ उनमें से एक प्रतीत होता है, हालांकि साधारण इतिहास-लेखक मेरे तरीके को शायद काफी पसंद न करें। लेकिन जो हुआ, उसका वर्णन करने की दृष्टि से वे सामग्री का अध्ययन करें तो मेरे नतीजों पर पहुँचेंगे।

यह साबित करता है कि कोणार्क का मुझ पर और एक दूसरा प्रभाव पड़ा। कई बरसों बाद दुबारा वहाँ जाने पर फिर मैं सोचने लगा हूँ कि स्थापत्य कला के दोषों को छोड़ कर क्या वह हिन्दुस्तान में सर्वश्रेष्ठ नहीं है। इसके बारे में मुझे और जाँच करनी होगी।

भारतीय वर्णमाला पर, इधर मैं विचार कर रहा था। वे सभी नागरी वर्णमाला के भेद हैं, तमिल भी। तमिल वर्णमाला, सिर्फ नागरी वर्णमाला में बूँद भर जोड़-घटाव है।

बिलकुल साफ तौर पर, या तो उपलब्ध सामग्री (उदाहरणार्थ तालपत्र या भोजपत्र) या सभी को, वर्णमाला को भी, सुन्दर बनाने की पूर्वी भारत की आन्तरिक प्रवृत्ति का परिणाम है उड़िया और बंगला। बंगला में नागरी को गोलाई से लिखने और शोभान्वित करने के प्रयत्न का अब तक मैंने मजाक उड़ाया है। उड़िया ने तो मुझे करीब-करीब धक् कर दिया। कुछ कह सकते हैं वाह, बहुत खूबमैं कहूँगा वाह, कैसा फिजूल! अक्षर या अंक खूबसूरती के लिए नहीं है।

मध्यमवर्ग का काम है ऐसी विषमताओं को सुरक्षित रखना और इस तरह, राष्ट्रीय एकता को कमजोर करना या राष्ट्र के समय को नष्ट करना।

* डॉ. राम मनोहर लोहिया के लेखों के संगह ‘भारतमाता-धरती माता’ (संपादकओंकार शरद) से साभार

इससे काल की दार्शनिक समस्या का सवाल उठता है। काल विच्छिन्न भी करता है और एकत्र भी करता है। विच्छिन्नता का दर्शन भेद और एकता का दर्शनभेद, दोनों अनिवार्य है। अक्षर समवाय होते हैं और कुछ काल बाद एक केन्द्र से पराङ्मुख होते हैं। महाकाल के इस निराशावाद में तात्त्विक आशावाद का समावेश होना चाहिए।

भारतीय वर्णमाला पर एक लेख तैयार किया जा सकता हैप्रयत्न करो।''

प्रोफेसर रमा मित्रा ने, जिन्हें मैंने यह पत्र लिखा, मुझे निराश किया है और उनके लोगों ने भी। मैं आशा करता हूँ कि वे और दूसरे कालेज अध्यापक समय रहते चेत जाएँगे, नहीं तो इतिहास का झाड़ू उन्हें बुहार कर फेंक देगा या, एक असम्भाव्य पर दारुण विकल्प है कि भारत फिर विस्मृति के गर्भ में चला जाए। और किसी की अपेक्षा विश्वविद्यालय अध्यापकों पर जिम्मेदारी है कि वे सारे स्वस्थ ज्ञान का उद्‌घाटन करें, जिसे क्या देशी क्या विदेशी, दोनों निहित स्वार्थों ने गहरा गाड़े रखा है।

सभी भारतीय वर्णमालाएँ एक ही मूल की हैं। पिछली बार जब मैं उड़ीसा गया था, तब यह तथ्य जैसे मेरी आँखें फाड़ कर घुस गया। इससे पहले भी कई बार मैं उत्कल गया हूँ। लिखावट में उसके अक्षर इतने विचित्र और अपरिचित प्रतीत हुए थे कि मेरे स्वभाव के बावजूद वहाँ के नामपटों को पढ़ने की मेरी अभिरुचि नहीं हुई थी। क्योंकि पिछले महीनों से भाषा और अक्षर के रहस्य के प्रति मेरी बुद्धि कुछ ज्यादा सचेत हो गयी, मैंने एक खोज की। लिखावट में भी, उड़िया अक्षर, भारत की बुनियादी वर्णमाला का एक प्रकारान्तर है। उसके एक-एक अक्षर की आकृति प्रायः नागरी अक्षर जैसी है, पर वह एक प्रकार की गोलाई से, लगभग पूर्णचन्द्र जैसी गोलाई से घिरा है।

उर्दू को छोड़ कर, भारतीय वर्णमालाओं की ध्वनि 99 प्रतिशत और आकृति 80 प्रतिशत के ऊपर समान है। अक्षर को ध्वनि और उसकी आकृति ही किसी वर्णमाला का अपना विशिष्ट रूप देते हैं। भारतीय वर्णमालाओं के अत्यन्त बहुसंख्यक अक्षर ध्वनि में ठीक एक जैसे हैं; बहुत थोड़े अक्षर, जो अन्य अक्षरों से भिन्न हैं, प्रतिभावी ध्वनि को ही व्यक्त करते हैं। दरअसल, यूरोप के विभिन्न देशों में जिस तरह रोमन वर्णमाला का उच्चारण किया जाता है, उसमें कहीं ज्यादा विभेद है। और फिर भी अब तक किसी विद्वान ने यह उक्ति नहीं दी कि रोमन वर्णमाला एक नहीं है। उदाहरण के लिए, जर्मन का 'ए' अंग्रेजी 'ए' की अपेक्षा ध्वनि में नागरी 'अ' के ज्यादा करीब है। भारत की वर्णमालाओं के सभी स्वर 'अ, आ' से और अपने उद्‌गम के भाषा क्षेत्रों के अनुसार ध्वनि को नियोजि करने वाले उसके व्यञ्जन वर्ग 'क, च, ट, त, प, र' से शुरू होते हैं। तमिल वर्णमाला न सिर्फ अपवाद नहीं है, बल्कि उसकी तीन चौथाई से ज्यादा ध्वनियाँ नागरी और भारत की और किसी वर्णमाला की ध्वनियों के ही समान हैं। जिस तरह महाराष्ट्र में, नागरी लिपि में कुछ और अक्षर जुड़ गये हैं, उसी तरह



तमिल लिपि में कुछ अक्षर अधिक हैं। फिर, तमिल लिपि ने कुछ नागरी अक्षर छोड़ भी दिये हैं।

भारतीय वर्णमालाओं की ध्वनि में समानता का यह चमत्कार बहुत हद तक उसकी आकृति में भी प्रतिबिंबित होता है। किन्तु काल और दूरी ने भी उनके साथ कुछ खेल खेले हैं। उनकी आकृति, खास कर दक्षिण में, पहली बार देखने पर अलग प्रतीत होती है, किन्तु गौर से देखने पर उनमें समानता झट स्पष्ट हो जाती है। रुचि से और उतने ही अध्यवसाय से यह और स्पष्ट होगा। उदाहरण के लिए कन्नड़ अक्षर नागरी से बेहद अलग प्रतीत होते हैं, पर जिस कागज पर वे लिखे गये हैं उसे सिर्फ 90 अंश के समकोण पर घुमा भर दीजिए। इससे काल और दूरी का खेल कुछ-कुछ समझ में आने लगेगा। कन्नड़ और नागरी के कई अक्षर उनकी लिखावट के कोण के कारण विभिन्न प्रतीत होते हैं; कन्नड़ के अक्षर को ऐसे घुमाइए कि उसका बायाँ हिस्सा ऊपर आ जाए, और उसका ऊपरी हिस्सा दायें आ जाए, तो उसके कई अक्षर नागरी अक्षर बन जाएँगे। तमिल के कुछ अक्षरों की आकृति, उत्तर भारत के अक्षरों की आकृति की अपेक्षा नागरी के अक्षरों जैसी ज्यादा है। तमिल के अक्षरों की आकृति बंगला के अक्षरों की अपेक्षा नागरी के अक्षरों से ज्यादा मिलती है। 'क' के बीच की रेखा और उसके दाहिनी तरफ का उभार सभी अक्षरों में लगभग एक जैसा है। बायीं तरफ के उभार में दो तरफ की रेखाएँ मिलती हैं जैसे बंगला या असमी में, जब कि तमिल या नागरी में वह अर्धचन्द्राकार जैसा है। भारतीय अक्षरों की समानता, एक ही भारतीय वर्णमाला के इस तथ्य के प्रति भारतीय विद्वानों की आँखें जो बन्द हैं, उसका कारण सिर्फ उनकी मूढ़मति नहीं है। लगता है कि कुछ पाजी शक्तियाँ क्रियाशील हैं।

जो हो, मेरे पत्र की एक गलती को मैं सुधार देना चाहता हूँ। वह यह कि भारत की दूसरी सभी वर्णमालाएँ नागरी प्रकारान्तर हैं। ऐसा कहना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत तो होगा ही, पर इससे ज्यादा भविष्य की दृष्टि से भी गलत होगा। यह कहना ज्यादा सही होगा कि नागरी समेत भारत की सभी वर्णमालाएँ एक-दूसरे की ही प्रकारान्तर हैं। नागरी प्रकार का इस्तेमाल ज्यादा व्यापक और ज्यादा अधिकारपूर्ण हुआ। पूर्वी भारत की भाषाओं के पक्ष में मैं इससे पहले ऐसी ही एक और गलती करता था जिसे सुधारने का मुझे मौका भी मिला। बंगला, उड़िया, असमी और मैथिली सभी एक भाषा की प्रकारान्तर है, जो शायद कभी पूर्वी प्राकृत या मागधी रही हो। उनकी ध्वनियाँ, वाक्य-रचना, शब्द और उच्चारण सभी एक जैसे हैं। पिछले कुछ दिनों से, बंगला दूसरी तीन प्रकारान्तरों से आगे रही है, और कोई यह मानने की गलती कर सकता है कि बंगला के स्रोत से ही ये दूसरी तीन पैदा हुई हैं। वास्तविकता यह है कि ये चारों पूर्वी प्राकृत के स्रोत से पैदा हुई। ठीक इसी प्रकार भारतीय वर्णमालाओं का जन्म एक ही स्रोत से हुआ है। हाँ, उनमें परिवर्तन का इतिहास जरूर पुराना है। आज

नागरी का जो रूप है, वह दो हजार बरस पहले के रूप से कुछ भिन्न है। नागरी उसी से तो बनी।

भारतीय अक्षर कितने समान हैं यह 'ठ' श्रेणी से जाहिर होता है। कन्नड़, तेलुगू के अक्षर अपने आधे या पूरे गोलाकार में एक नुक्ता रख देते हैं जब कि मलयालम का यह अक्षर ऊपर की खड़ी पाई को हटा देता है। बस, फिर ये नागरी अक्षर हैं। इसी तरह, नागरी, तमिल और मलयालम के 'व' और 'ल' की तुलना करने पर एक तरह का बच्चों का खेल जैसे दीखेगा जिसमें एक ही चीज को विभिन्न कोणों से देखा गया है।

मलयालम 'ल' और 'व' को 90 अंश पर घुमाने से वे नागरी अक्षर बन जाते हैं।

इन अनेक अक्षरों को बनाये रखना बेकार की बरबादी है। सारी दुनिया के बच्चों में हिन्दुस्तानी बच्चा बहुत ज्यादा सताया हुआ है। उसका देश उस पर इतना बोझ लाद देता है कि उसके पास उपयोगी चीजों के लिए समय, शक्ति या बुद्धि की कमी हो जाती है। उसे क्यों इतनी ज्यादा वर्णमालाएँ और भाषाएँ सीखनी पड़ती हैं? भूगोल या भौतिकशास्त्र जैसे जरूरी विषयों का अध्ययन करने के लिए क्या उसके पास बुद्धि बच रहती है? इसी तरह विभिन्न वर्णमालाओं के निरंतर इस्तेमाल से देश के सभी स्तरों पर समय, शक्ति, धन और बुद्धि का ह्रास होता है।

नागरी लिपि को, जितनी वह है, इससे ज्यादा वैज्ञानिक और कम फिजूली बनाना है। वर्तमान रूप में भी वह दुनिया की सभी लिपियों से ज्यादा वैज्ञानिक है। फिर भी उसकी शीर्ष-रेखा बेकार की बरबादी और सिर्फ सजावट है। नागरी लिपि में सुधार के कुछ बनावटी प्रयत्नों के नतीजे मेरे सामने आये हैं। नतीजे बुरे हैं। किन्तु शीर्ष रेखा को हटा देने के इस सीधे से सुधार से नागरी की दक्षिणी प्रकारान्तरों से समानता कुछ ज्यादा हो जाएगी और साथ ही उसकी उपयोगिता भी बढ़ जाएगी। 'भ' और 'म' या 'ध' और 'घ' में गलतफहमी की संभावना की कठिनाई को आसानी से दूर किया जा सकता है। एक को दूसरे से फर्क करने के लिए इन अक्षरों के किसी एक वर्ग में गाँठ लगायी जा सकती है।

भारत की विभिन्न वर्णमालाओं की जानकारी और ज्ञान के अभाव के कारण ही सुधारकों के एक वर्ग ने समय-समय पर रोमन लिपि की सिफारिश की है। उनकी छलभरी विभिन्नता के कारण विमूढ़ लोग उन्हें पूरी तौर पर खारिज कर देते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान के अभाव में ही ऐसे लोग रोमन लिपि का सवाल खड़ा कर देते हैं, उदाहरणार्थ, वे नहीं जानते कि अलग-अलग यूरोपी राष्ट्रों में इस लिपि का उच्चारण अलग-अलग होता है।

यह भयानक राष्ट्रीय बरबादी, जो लिपि के मामले में इतनी स्पष्ट है, एक विदेशी भाषा की जबरन पढ़ाई से पागल कर देने की सीमा पर पहुँच गयी है।



हिन्दुस्तान में मैट्रिक के इम्तहान मे जो लड़के फेल होते हैं, उनमें से दो तिहाई तो सिर्फ अंग्रेजी भाषा में ही फेल होते हैं। इस देश में मैट्रिक की परीक्षा में जो पास होते हैं उनका प्रतिशत बेहद कम है। परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों में लगभग आधे फेल हो जाते हैं। इसमें राष्ट्र के समय और धन की जो बरबादी होती है, वह जाहिर है, जो जाहिर नहीं है वह है हर साल पाँच लाख नौजवानों के मन में घर कर जाने वाली कटुता और हीन-भावना। ये पाँच लाख दूसरे सभी विषयों में पास होते हैं पर सिर्फ एक ही में फेल हो जाते हैं। उन्हें क्यों अंग्रेजी लाजमी तौर पर पढ़ायी जाए और फिर क्यों वे असफलता का कलंक भुगतें? शिक्षा का मतलब होता है कि उन्हें आवश्यक ज्ञान दिया जाए, न कि उन्हें विदेशी भाषा पढ़ा कर हैरान किया जाए, जिसे सीख पाना उनके लिए प्रायः असंभव है।

इस देश में सरकार और विश्वविद्यालय के अधिकारी अंग्रेजी की लाजमी पढ़ाई क्यों रखना चाहते हैं इसका एक कारण मेरी समझ में आता है। हो सकता है कि दरअसल वे सचेतन रूप से इस कारण से अनभिज्ञ हों। अंग्रेजी की लाजमी पढ़ाई और परीक्षा के कारण पढ़े-लिखे नौजवान, मर्दों और औरतों की तादाद कम रहती है। इसलिए नौकरियों के लिए होड़ और चाह कम होती है और वर्तमान शासक वर्गों के बच्चों को जीवन की आपाधापी और कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है, जितना कि जब अंग्रेजी न होती तो करना पड़ता। मुझे बड़ा विस्मय है कि अंग्रेजी की लाजमी पढ़ाई से उत्पन्न अपमानकारी हीन भावना और असमान विवेक के खिलाफ और राष्ट्र को और शिक्षा को बरबादी से बचाने के लिए सभी विद्यार्थी और विशेष रूप से फेल विद्यार्थी उनके पालक और हिन्दुस्तान की साधारण जनता, सभाओं, प्रदर्शनों, जुलूसों और सिविल नाफरमानी के जरिये विरोध क्यों नहीं प्रकट करते?

वर्तमान सरकार या तो पूरी तौर पर मूर्ख है या बेईमान है। उदाहरण के लिए बम्बई के सरकारी स्कूल आठवें दर्जे के बाद अंग्रेजी पढ़ाते हैं। यह बहुत अच्छा है। लेकिन प्राइवेट स्कूलों, विशेष रूप से 'मिशन' स्कूलों, 'कान्वेंटों' और फैंसी स्कूलों की शुरू ही से अंग्रेजी पढ़ाने की छूट है। फिर, लगभग सभी नौकरियों में नियुक्ति के लिए अंग्रेजी की परीक्षा ली जाती है। नतीजे भयानक होते हैं। मिशन और फैंसी स्कूल खूब चलते हैं। सरकारी स्कूल पिछड़ जाते हैं। निम्न मध्य वर्ग के मूर्ख लोग फैंसी स्कूलों को खत्म करने और नौकरियों में लेने के लिए अंग्रेजी की परीक्षा लेना बन्द करने की बात करने के बजाय वे सरकारी स्कूलों में अंग्रेजी पढ़ाई के लिए हल्ला मचाते हैं।

धार्मिक स्कूल देश के लिए इससे कहीं ज्यादा खतरा पैदा कर रहे हैं। इनमें से विदेशी 'मिशनों' द्वारा चलाये जाने वाले स्कूल तो अनुपयुक्त शिक्षा देते हैं। अपने विद्यार्थियों में वे एक हल्का द्रोह पैदा कर देते हैं। अपने विद्यार्थियों में समता की जड़ को वे नुकसान पहुँचाते हैं। साधारण जनता और उसके जो बच्चे ऐसे स्कूलों में नहीं पढ़े, उनके बारे में इनके मन में भी अहंकार के बीज बो दिये जाते हैं। जिसे वे चरित्र

कहते हैं, उसके बारे में भी उन्हें गलत शिक्षा दी जाती है। केरल की शिक्षा प्रणाली पर ऐसे स्कूल ही हावी हैं। इसके बारे में कुछ करना चाहिए।

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या जनतन्त्र से किसी समस्या का हल किया जा सकता है। वह हल तैयार करने की हद तक ठीक मालूम होता है और हल हो जाने के बाद भी वह ठीक मालूम होता है। हल तैयार करने और उसका फल भोगने की बीच की अवधि में, लगता है कि हल कर देने के लिए किसी प्रकार की डिक्टेटरी आवश्यक है। यह इतना साफ और वांछनीय, इतना तर्कसंगत, ऐसा कि जिसके बिना और कोई चारा लगभग नहीं है, और इसके साथ-साथ इतना सरल मार्ग है, पर भारत को सभी भाषाओं के लिए एक लिपि का सवाल आजादी के इतने साल बाद भी और विकट हो गया है। जनतंत्र ने कुछ बहुत ही पाजी निहित स्वार्थों को पनपने दिया है। इसके साथ ही मैं झट यह भी कह देना चाहता हूँ कि मैंने अभी तक डिक्टेटरी का उसूल नहीं माना है, न ही मैं समझता हूँ कि मैं कभी उसे मानूँगा। मैंने तो सिर्फ इस तथ्य पर विमर्श किया है कि मेरे जैसे जनतांत्रिक लोग सिर्फ तैयार कर सकते हैं, प्रचार कर सकते हैं और शिक्षित कर सकते हैं, जब कि उसकी प्राप्ति कर आनन्द और श्रेय किसी वहशी को मिलेगा, पर अगर सार्वजनिक मामलों में जनता ज्यादा असरदार तरीके से दखल दे तो बात दूसरी है। श्रेय मिलने के बावजूद मेरा इरादा वहशी या उसका सहयोगी बनने का नहीं है।

यहाँ निरंजन भगत जैसे कवियों की प्रशंसा आवश्यक है, जो लिखते तो गुजराती हैं पर अपने प्रकाशक को नागरी लिपि के अलावा और किसी लिपि का इस्तेमाल नहीं करने देते। वे शीर्ष रेखा हटा देते हैं। इस नयी रीति में कुछ सुधार करने के बाद सभी नागरी लिपि वाले इसे अपना कर बहुत फायदा उठा सकते हैं। वास्तव में, महात्मा गाँधी से मेरी यह भी एक शिकायत है कि उन्होंने अपने गुजराती प्रकाशनों के लिए गुजराती लिपि की इजाजत दी और कवि ठाकुर के खिलाफ भी कि उन्होंने बंगला लिपि की इजाजत दी, जब कि दोनों अपने प्रकाशकों को नागरी लिपि के इस्तेमाल के लिए मजबूर कर सकते थे और उन्हें ऐसा करना चाहिए था। मेरी समझ में नहीं आता कि बंगाली और गुजराती अपनी अलग लिपि क्यों रखना चाहते हैं, चाहे तमिल की ख्वाहिश कुछ ज्यादा पक्की हो और उतनी ही अनुचित भी। अलग-अलग लिपियों के इस्तेमाल करने वालों के संकुचित और निजी स्वार्थ के साथ ही ये लिपियाँ राष्ट्रहित के विपरीत भी पड़ती हैं। फिर भी यह नासमझी बरकरार है।

संस्कृति को नकली बनाने वाले इस नासमझी के पक्ष में दो तर्क पेश करते हैं : एक का सुन्दरता से सम्बन्ध है और दूसरे का भारतीय संस्कृति के विशिष्ट चरित्र से। वे कहते हैं, अनेक में एक, भारतीय संस्कृति का लक्षण है। क्या यह सिद्धान्त मूर्ख, फिजूल, मतिहीन और राष्ट्रीय दुर्गति के विभेद को छिपाने वाला नहीं है? और क्या



सुन्दरता चित्रों और ऐसी ही दूसरी चीजों में आनी चाहिए या वर्णमाला जैसी जरूरत की असामान्य वस्तु में?

यहाँ मैं उनकी इस कुछ निरर्थक-सी बात की चर्चा नहीं करूँगा जो कहते हैं कि दुनिया की अब तक की लिपियों में नागरी लिपि सबसे ज्यादा वैज्ञानिक है। सामाजिक उपादान के क्षेत्र में क्या वैज्ञानिक है, वह ज्यादातर मान्यता पर निर्भर करता है, और क्या मान लिया जाता है, यह ज्यादातर शक्ति और सत्ता पर निर्भर करता है। मैं सिर्फ बहुत ज्यादा लिपियों की फिजूली से होने वाली दुर्गति को दुहरा देना चाहता हूँ, जब एक अक्षर, दूसरों के निकट है कि आसानी से काम निकल जाता है तो यह बरबादी क्यों?

अब मैं उन सबको आमंत्रित करता हूँ जो भारतीय इतिहास के या भारतीय वर्णमालाएँ जैसे विषयों पर, महाकाल द्वारा बिछायी गयी अज्ञान और कृत्रिमता की परतों को हटाने के इरादे से, विमर्श करना चाहते हैं।

*भारतजैसे देशों पर, जो एक सुनियोजित झूठ के शिकार बने हैं, जिन्हें आत्म-सम्मान और साहस से रहित जड़ वनस्पति या कीड़ों जैसा बना दिया गया है। ऐसी व्याख्याएँ लादी जाती रहेंगी, जिनमें समर्पण को समन्वय बना दिया गया है, वीरता को मूर्खतापूर्ण साहसिकता, पुनर्जीवन को झूठा विहान और अनेकता को एकता। भारत का इतिहास कई अवधियों में बुरा रहा है। उनका इतिहास-लेखन और भी बुरा रहा है। फलस्वरूप सड़न जम गई है। अरुचिकर अतीत अनिश्चित भविष्य तक फैला दिया गया है।*

**डा. लोहिया**

# एक पुस्तक के बहाने....

**नरेन्द्र कोहली***

पिछले दिनों अंग्रेजी के सम  ाचारपत्र 'हिंदुस्तान टाइम्स' के 'इनर वायस' स्तंभ में गीता के संबंध में एक कथा पढ़ी।

एक व्यक्ति बहुत श्रद्धापूर्वक नित्यप्रति भगवद्गीता पढ़ा करता था। उसके पोते ने अपने दादा के आचरण को देख कर निर्णय किया कि वह भी प्रतिदिन गीता पढ़ेगा। काफी समय तक धैर्यपूर्वक गीता पढ़ने के पश्चात् एक दिन वह एक शिकायत लेकर अपने दादा के पास आया। बोला, "मैं प्रतिदिन गीता पढ़ता हूँ; किन्तु न तो मुझे कुछ समझ में आता है और न ही उसमें से मुझे कुछ स्मरण रहता है। तो फिर गीता पढ़ने का क्या लाभ?"

दादा के हाथ में वह टोकरी थी, जिसमें कोयले उठाए जाते थे। उन्होंने वह टोकरी अपने पोते को पकड़ा दी और कहा, "जाओ, इस टोकरी में नदी से जल ले आओ।"

पोता जा कर नदी से जल ले आया; किन्तु नदी से घर तक आते-आते सारा पानी बह गया। टोकरी खाली की खाली थी।

दादा ने कहा, "तुमने आने में देर कर दी। अब जाओ और पानी भर कर जल्दी लौटो।"

पोता गया और टोकरी में पानी भर कर भागता-भागता घर आया। किन्तु कितनी भी जल्दी करने पर घर तक आते-आते टोकरी का सारा पानी बह गया; और टोकरी खाली हो गई।

पोते ने कहा, "दादा जी। कोई लाभ नहीं है। टोकरी में पानी नहीं भरा जा सकता।"

दादा हँसे, "ठीक कहते हो, टोकरी में पानी संचित नहीं किया जा सकता। किन्तु टोकरी का रूप-रंग देखो। उसमें पानी भरने से कोई अंतर आया है?"

पोते ने टोकरी देखी : कोयलों के संपर्क से वह काली हो गई थी। किन्तु दो ही बार पानी लाने से उसके भीतर-बाहर से कालिमा धुल गई थी; और वह साफ-सुथरी हो गई थी।

* 175, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली110034



"गीता तुम्हारी समझ में आए न आए, स्मरण रहे न रहे; किन्तु जो प्रभाव जल का टोकरी पर हुआ है, वही प्रभाव गीता का तुम्हारे मन पर होता है।"

पोता नियमित रूप से गीता पढ़ता रहा।

संयोग ही था कि मैं शास्त्री जी[1] की 'गीता परिक्रमा' के दूसरे खंड संबंधी काम कर रहा था। यह कथा पढ़ कर मेरा ध्यान शास्त्री जी की आस्था पर गया। मैं अनुभव कर रहा था कि अनेक बार गीता पढ़ने और उसके बहुत सारे भाष्य देख जाने के पश्चात् भी वह मेरे लिए एक पुस्तक ही थी, जिसमें अनेक अनमोल सिद्धांतों और सत्यों की चर्चा थी। वह मेरे लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी; किन्तु थी एक पुस्तक ही। किन्तु शास्त्री जी की आस्था का प्रभाव मेरे लिए गीता का अर्थ बदल रहा था। वह मात्र पुस्तक नहीं थी, वह स्वयं भगवान् का वक्तव्य था, उनका कथन था, मानवहित के लिए उनका संदेश था। यह प्रक्रिया कुछ ऐसी थी जैसे बचपन से रामकथा सुनते और पढ़ते आए थे। प्रत्येक रामकथा में यह उल्लेख है कि राम जी ने लंका जाने के लिए रामेश्वरम में भगवान् शिव की पूजा कर, समुद्र में एक सेतु बनवाया। उसे कहीं-कहीं नल-सेतु भी कहा गया है। स्वामी विवेकानन्द की जीवनी पढ़ते हुए और 'तोड़ो कारा तोड़ो' लिखते हुए, यह चर्चा भी पढ़ी कि उनके समय में अर्थात् आज से केवल एक शताब्दी पूर्व, रामेश्वरम जिस रियासत का अंग था, उसका नाम 'रामनाड' अर्थात् 'राम का देश' था। तमिलनाडु का वह जिला आज भी 'रामनाड' ही है। स्वामी जी रामनाड के राजा से मिले। राजा का नाम भास्कर 'सेतुपति' था। 1960 ई. तक तो धनुषकोडि स्टेशन भी था। इतना कुछ होने पर भी कभी राम-सेतु के संबंध में वैसे विचार नहीं उठे, जैसे नासा द्वारा खींचे गए चित्र को देख कर हुए। उस चित्र को देख कर राम-सेतु एक जीवंत अस्तित्व के रूप में मन में बैठ गया। वह ऐतिहासिक निर्माण के रूप में सामने आया। जैसे ताजमहल एक भवन है, जैसे कुतुब मीनार एक मीनार है, वैसे ही रामसेतु समुद्र के बीच में बनाया गया एक सेतु है, जो रामकथा को कथा से इतिहास बना देता है। श्रीराम की कथा पौराणिक कल्पना न हो कर जीवंत इतिहास हो जाती है। ठीक वैसे ही शास्त्री जी की गीता के प्रति आस्था, श्रीकृष्ण की वाणी, सहस्रों वर्षों की धुंध को चीर कर जीवन्त कर देती है। इस आस्था ने मुझे संकुचित ही नहीं, लज्जित भी किया कि मैंने उस वाणी को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी उसका वह महत्त्व नहीं समझा, जिसकी वह अधिकारिणी है। अपनी इस धरोहर के प्रति एक प्रकार की उपेक्षा का अपराध हम करते ही रहे हैं, कर रहे हैं। शास्त्री जी की आस्था, उनके शब्द, उनकी भंगिमा हमारी उस उपेक्षा को क्षार कर देती है। गीता का अर्थ बदल जाता है, कहना चाहिए कि गीता का कुछ और ही अर्थ प्रकाशित होने लगता है। वह अर्थ या वह आस्था पाठक

1. आचार्य विष्णुकांत शास्त्री

को भी एक प्रकार से, एक उच्चतर धरातल पर स्थापित कर देती है। स्वामी विवेकानन्द की एक अमरीकी शिष्या ने लिखा था कि स्वामी जी के व्याख्यान के आरंभिक कुछ वाक्यों तक अपनी चेतना रहती है; और उसके पश्चात् जैसे स्वामी जी की शक्ति श्रोता की चेतना का अधिग्रहण कर लेती है और अपने समकक्ष धरातल तक उठा ले जाती है। व्याख्यान के पश्चात् चाहे हमें यह स्मरण रहे न रहे कि उन्होंने क्या कहा, किन्तु इतना स्पष्ट हो जाता है कि हम वह नहीं रहे, जो हम थे। हम उससे कुछ ऊपर उठ चुके हैं।

यह भी कोयले की टोकरी के धुलने जैसा ही कुछ है।

संयोग ही है कि इधर इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति शंभुनाथ श्रीवास्तव का वह ऐतिहासिक निर्णय आ गया, जिसमें उन्होंने गीता की चर्चा भारत के राष्ट्रीय ग्रन्थ के रूप में की है। उसे राष्ट्रीय धर्मग्रन्थ भी कहा गया है और राष्ट्रीय ग्रन्थ भी। इस संदर्भ में न्यायमूर्ति श्रीवास्तव के विचारों को देखना आवश्यक है। अत्यंत संक्षेप में उनका उल्था इस प्रकार किया जा सकता है....

यद्यपि भारत सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से सदा से एक ही रहा है; और धर्म की अवधारणा से शासित होता रहा है, राज्यों की दृष्टि से वह अनेक राजाओं के अधीन रहा है। महाभारत के युद्ध में भारत के सारे ही राजा सम्मिलित हुए। यह भारत की एकता का ही प्रमाण है। युद्ध को रोकने के सारे प्रयत्नों के बाद भी धर्म और अधिकार की स्थापना के लिए युद्ध हुआ। भगवान् कृष्ण ने इसी युद्ध में मानव जाति को गीता का दान दिया।

श्रीकृष्ण और गीता का महत्त्व इन तथ्यों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारी मुहम्मद बिन कासिम (712 ई.) और उसके पश्चात महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी, बाबर, तैमूर, अहमदशाह अब्दाली तथा अंग्रेजों के आक्रमण के पश्चात् भी हिन्दू समाज ने कभी स्वयं को पराजित नहीं माना और 1300 वर्षों तक स्वतंत्रता का अपना संघर्ष जारी रखा। हिन्दू समाज ने इन विदेशी शासकों से सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मोर्चों पर संघर्ष किया। कृष्ण की गीता ने इस संपूर्ण देश को स्वातंत्र्य संघर्ष के लिए निरंतर प्रेरित किया। इसने सारे राष्ट्र को पुनः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग के आधार पर धर्म (न्याय) की स्थापना के लिए प्रेरित किया। उस संघर्ष में गीता सारे राष्ट्र को एक साथ बाँधने वाली शक्ति थी और आज भी वह पथप्रदर्शक है। भारतीय समाज ने 712 ई. से 1857 ई. तक इन विदेशी शासकों से राजा दाहिर, पृथ्वीराज चौहान, बहराइच के राजा सुहैलदेव, राणा सांगा, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह, रानी दुर्गावती, रानी अहल्याबाई, रानी राजमणि, रानी लक्ष्मीबाई, रानी अवंतीबाई, तांत्या टोपे, कुंवर सिंह, मंगल पांडेय और लाखों-लाख योद्धाओं के नेतृत्व में सशस्त्र राजनीतिक युद्ध किया। उसके पश्चात् गोपाल कृष्ण गोखले, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, वीर सावरकर, सरदार वल्लभ



भाई पटेल, सुभाषचंद्र बोस, सरदार भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, राजगोपालाचारी, और महात्मा गाँधी जैसे लोग भारत के विभिन्न प्रदेशों और क्षेत्रों से आए। वे सब गीता के कर्मयोग से प्रेरित थे। इसलिए वे परिणाम की चिंता के बिना संघर्ष करते रहे।

हिन्दू समाज ने यह स्वतंत्रता संग्राम सशस्त्र विरोध के अतिरिक्त सामाजिक और धार्मिक धरातल पर भी जारी रखा। वे धर्म को स्थापित करने के लिए लड़े और लड़ते रहे। इसमें संतों, बुद्धिजीवियों, चिंतकों, साहित्यकारों और दार्शनिकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, जिन्होंने हिन्दू समाज को एकजुट रखा और जो उन्हें विदेशी मुसलमान और ईसाई आक्रमणकारियों से संघर्ष करते रहने की प्रेरणा देते रहे। गणना की जाए तो उनकी संख्या सशस्त्र योद्धाओं से कहीं अधिक निकलती है। राजनीतिक इच्छाशक्ति और सहायता के अभाव में भी वे हिन्दू विरोधी शक्तियों से जूझते रहे। वे आज भी अपना संघर्ष चला रहे हैं, यद्यपि यह भी सत्य है कि आज कई प्रदेशों में हिन्दू अल्पसंख्यक हो चुके हैं।

इन 1300 वर्षों में और आज भी यह संघर्ष धर्म की स्थापना के लिए है और उसकी मूल प्रेरणा भगवद्गीता है। गीता ने धर्म की स्थापना के लिए हमें 'योग' का मंत्र दिया और यह योग तीन प्रकार का है कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, रामप्रसाद बिस्मिल, लाला लाजपत राय, चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी और विनोबा भावे जैसे सहस्रों लोग गीता से उद्दीप्त हो कर स्वतंत्रता का संग्राम लड़ते रहे। माहत्मा गाँधी और विनोबा भावे गीता पढ़ते रहे, लोगों को पढ़ाते रहे और आजीवन उसपर चलने का प्रयत्न करते रहे।

'गीता रहस्य' की भूमिका में लिखा है : "स्वर्गीय श्री बाल गंगाधर तिलक आध्यात्मिक और बौद्धिक अतिमानव थे। वे भारतीय इतिहास में एक महामानव रहे हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वे दार्शनिक अधिक थे अथवा राजनीतिज्ञ। उनकी राजनीतिमत्ता का आधार गीता का कर्मयोग ही था। उन्होंने अपने जीवन में जिन नैतिक सिद्धांतों को स्वीकार किया, वे गीता द्वारा ही स्थापित किए गए हैं। वस्तुतः गीता के सिद्धांत ही उनके जीवन के प्रकाशस्तंभ रहे हैं। यदि इस बात की तुलना की जाए कि जो कुछ उन्होंने भारत के लिए किया और जो कुछ उन्होंने 'गीता रहस्य' में स्थापित किया, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उनकी कथनी और करनी में भेद नहीं था। जो कुछ 'गीता रहस्य' में स्थापित किया, उसी का आचरण अपने जीवन में किया। उनकी राजनीतिक गतिविधि उनके सार्वभौमिक लोकमंगल का ही कार्यान्वयन था, जो कि उनके अनुसार गीता द्वारा कर्म-योग के रूप में प्रचारित किया गया है। वे राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के युग में एक महर्षि थे।

गीता के उपदेश को किसी एक चिंतक अथवा चिंतकों की एक परंपरा ने सोच कर किसी तात्विक आध्यात्मिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। यह उस परंपरा के परिणाम स्वरूप स्थापित किया गया है, जो मानव जाति के आध्यात्मिक जीवन से उत्पन्न हुई है। यह एक ऐसे समर्थ द्रष्टा के द्वारा प्रतिपादित की गई है, जो न केवल सत्य को उसके अनेक पक्षों और आयामों में देखता है, वरन् उसकी रक्षणात्मक शक्ति में विश्वास भी करता है। यह हिन्दुओं के किसी पंथ का प्रतिनिधित्व नहीं करती, वरन् समग्र हिन्दू चिंतन को प्रस्तुत करती है। केवल हिन्दू धर्म को ही नहीं, वरन् देश-कालातीत सार्वभौमिक धर्म को, उसके संश्लेशण को सारे संतों की सर्जनात्मक साक्षी के साथ स्वीकार करती है। गीता में प्रस्तुत किया गया अस्तित्व का स्वरूप, सार्वकालिक आदर्शों की मूल्य-व्यवस्था और संदेश, सृष्टि के रहस्यों को बुद्धि और तर्क से प्रकाशित करने की विधि, हमें वह आधार प्रदान करती है, जिसके संज्ञान से बुद्धि और आत्मा का सामंजस्य होता है। यह सामंजस्य, सभ्यता के विकास से एक हो गए विश्व के सह-अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

गीता में स्थान-सापेक्ष और सामयिक सामग्री बहुत कम है। इसका प्रतिपाद्य अतिगंभीर, सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। और जो सामयिक और स्थानीय है, उसे भी बड़ी सुविधा से सार्वभौम बनाया जा सकता है। गीता किसी एक पंथ का ग्रन्थ नहीं है। वह किसी एक चिंतन धारा द्वारा प्रसूत नहीं है। कृष्ण का संदेश है कि सारे मार्ग मुझ तक ही आते हैं।....

न्यायमूर्ति शंभुनाथ श्रीवास्तव ने बहुत विस्तार से गंभीरतापूर्वक इस विषय को सप्रमाण प्रस्तुत किया है। यह एक गंभीर विषय है, जिसपर हम सब को विचार करना चाहिए। जो ग्रन्थ पाँच सहस्र वर्षों से इस देश शरीर में रक्त के समान बह रहा है और उसे हर प्रकार की ऊर्जा प्रदान कर रहा है, जो ग्रन्थ इस देश का मस्तिष्क कहा जा सकता है, जो इस देश के अद्वैत सिद्धांत के समान सबको समान मानता है। सबको समान अधिकार, अपनी रुचि के अनुसार धार्मिक विश्वास और धर्म की स्थापना का आग्रहगीता की ये विशेषताएँ, उसे सर्वाधिक जनवादी और जनतांत्रिक ग्रन्थ बना देती हैं। हमें उसको इन सारे पक्षों से देखना और समझना चाहिए।

मेरा ध्यान इस ओर भी गया कि इतने गंभीर और गहन विषय के होते हुए भी शास्त्री जी का विनोद बीच-बीच में अपना सिर उठाता ही रहता है। वे अपने स्वभाव के अनुसार सहज रहते हैं और पाठक को भी सहज बनाए रखते हैं। किन्तु उनके विनोद में भी कहीं अविनय का भाव नहीं आता; किन्तु फिर भी जब वे अपनी आस्थाओं के विरुद्ध घोषणाएँ पढ़ते और सुनते हैं तो विनोद में ही सही; किन्तु तीखा विरोध करते हैं : नीत्शे ने कहा, 'ईश्वर मर गया। परमात्मा मर गया।' अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए शास्त्री जी पूछते हैं, "अरे भैया, तुमने उसकी लाश देखी? पोस्टमार्टम कर के बताया कि यह परमात्मा ही था कि किसी और को तुम परमात्मा



समझ कर, मृत घोषित कर रहे हो? किसी के मारे परमात्मा मरता नहीं। परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

इसी प्रकार वे कहते हैं, "समस्त प्राणियों के भीतर प्रभु हैं। तो क्या प्रभु एक गेंद हैं, जिन्हें एक थैली के भीतर रख दिया गया है।" यह परिहास यह समझाने के लिए है कि ईश्वर की व्याप्ति का क्या अर्थ है। वे ऐसा उदाहरण देते हैं, जिसे हम न भूल पाएँ और अप्रभावित हुए बिना भी न रहें। ईश्वर सारी सृष्टि में व्याप्त है, तो "जो कपड़ा हम पहनते हैं, उसी को हम धोते हैं पीट-पीट कर। उस कपड़े में भी राम जी हैं।" इस वाक्य के स्मृति में आते ही कपड़ा धोते हुए हमारे हाथों में एक प्रकार की मृदुलता आ जाएगी। मन में स्नेह जाग उठेगा। इसी प्रकार वे एक गंभीर बात को विनोदी ढंग से कह रहे हैं : "ऋषि तो वही है, जो अपनी बात कहे। सबने अलग-अलग बातें कहीं हैं।" यह विनोद है; किन्तु एक बड़े सत्य को व्यक्त करता है कि ऋषि अथवा बुद्धिजीवी, मौलिक बात कहता है। किसी का अनुकरण मात्र नहीं करता। इसलिए प्रायः वह किसी से सहमत नहीं होता।

उनके प्रवचनों को पढ़ कर शास्त्री जी की कुछ विशेषताएं ध्यान में आती हैं। जहाँ जो विषय आ जाए, वे केवल उसका स्पष्टीकरण ही नहीं करते, उसके संबंध में जो सामग्री जहाँ कहीं भी मिलती है, उसे वहाँ एकत्रित कर देते हैं। 'निमित्त' का प्रसंग आया तो रामचरितमानस में ही नहीं, सारे भक्त कवियों में जहाँ-जहाँ 'निमित्त' की चर्चा है, वह सारी चर्चा शास्त्री जी ने अपने श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर दी। मैं इसे महाभारत की शैली मानता हूँ। महाभारतकार को भी किसी विषय पर कुछ कहना होता है तो वह कथा को वहीं रोक कर उस विषय का सारा ज्ञान एकत्रित कर देता है। यही कारण है कि महाभारत में 'श्रीमद्भगवद्गीता' 'अनुगीता' और 'विदुर नीति' ग्रन्थ तैयार हो गए। युद्ध की समाप्ति पर पांडव अपने पितामह के पास गए और धर्मराज ने राजनीति संबंधी कुछ प्रश्न पूछे तो एक विराट ग्रन्थ ही तैयार हो गया। व्यास इस बात से चिंतित नहीं होते कि धर्मराज सम्राट भी रह चुके हैं, उन्हें छोटी-छोटी बातें क्यों बताई जाएँ, या फिर पितामह गंभीर रूप से घायल हैं, अपनी उस शारीरिक पीड़ा में वे इतना सब कैसे बताएँगे और क्या बताना चाहेंगे। उन्हें अपने समय तक का सारा राजनीतिक चिंतन प्रस्तुत करना है। अवसर मिलते ही उन्होंने वह कर दिया।

शास्त्री जी व्याकरण की दृष्टि से भी अर्थ को परखते हैं। रसों और छंदों की ओर भी उनका ध्यान जाता है। उन्होंने बीभत्स रस और करुण रस इत्यादि की चर्चा भी यथास्थान कर दी है। वस्तुतः गीता एक विराट काव्य का अंग है; और स्वयं भी 'गीता' है। वह भगवान् द्वारा गाई गई है। अतः उसमें काव्य और संगीत तत्त्व का होना अनिवार्य है। तो शास्त्री जी उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते थे।

'गीता-परिक्रमा' के इस खंड में श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें से बारहवें अध्याय तक की सामग्री पर शास्त्री जी के प्रवचनों का संकलन है। सप्तम अध्याय है

'ज्ञान-विज्ञान योग'। किन्तु शास्त्री जी ने अपने प्रवचनों के शीर्षक वे ही नहीं रखे हैं, जो गीता के अध्यायों के शीर्षक हैं। वे उसका सार निकाल कर, मूल प्रतिपाद्य को ही शीर्षक के रूप में स्वीकार करते हैं, ताकि वह शास्त्रीय शब्दावली से भिन्न होकर, पाठक और श्रोता के अपने शब्द-भंडार और अनुभव संसार के अंग के रूप में चित्रित हो और उसे समझने में कोई कठिनाई न हो।

इस नीति के अंतर्गत पहले प्रवचन को 'माया और उसके पार जाने के साधन' कहा गया। इसी से प्रश्न उठता है कि माया क्या है? यदि माया को जानना है तो फिर उसके स्वामी को भी जानना होगा। इसी से हम एक प्रकार से सृष्टि के मूल रहस्यों-संबंधी प्रश्नों के आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। ब्रह्म का स्वरूप क्या है? वह जब प्रकट होता है तो उसका रूप क्या है? और उसके प्रकट होने की प्रक्रिया का रूप क्या है?

इन प्रश्नों के उत्तरों के संदर्भ में ही भगवान् ने अर्जुन से कहा कि मैं तुम्हें ज्ञान और विज्ञान दोनों के विषय में कहूंगा। ज्ञान और विज्ञान को स्पष्ट करते हुए शास्त्री जी ने अनेक बातों की ओर हमारा ध्यान खींचा है।

(क) जो कुछ हमने जाना है, वह विज्ञान है; और वह हमारे आचरण में उतर आए, वह विज्ञान है।

(ख) उस 'एक' के अनेक होने की प्रक्रिया को जान लेना विज्ञान है; और इस सृष्टि के असंख्य नाम रूपों के भीतर एक ही तत्त्व विद्यमान है, इसका बोध हो जाना ज्ञान है।

(ग) वह जो त्रिगुणातीत है, सर्वव्यापी है, वह कैसे अनेक हो गया। उस एक तत्त्व का अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना ही ज्ञान-विज्ञान है। साक्षात् अनुभव कर लेना।

ज्ञान परमात्मा का बोध है। अद्वैत सत्ता, जो सत् है, चित् है, आनन्द है, अद्वै है, उसका बोधयह तो है ज्ञान। वही सत्ता बहु हो गई है, अनेक रूपों में उसी की अभिव्यक्ति है, और ये सब उसी भगवान् के ही रूप हैंयह है, विज्ञान।

इसी संदर्भ में उन्होंने अत्यंत विस्तार से स्पष्ट किया है कि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर, उस पर आश्रित सबका ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म इस प्रकृति का निमित्तोपादान कारण है। वही स्वयं को सृष्टि, प्रकृति अथवा माया के रूप में प्रकट करता है। सांख्य दर्शन और अद्वैत में प्रकृति और पुरुष (ब्रह्म) का संबंध एक जैसा नहीं है। गीता अद्वैत दर्शन के अनुरूप प्रकृति को ब्रह्म के अधीन मानती है। वस्तुतः ब्रह्म स्वयं ही प्रकृति के रूप में प्रकट होते हैं। रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानन्द से कहा था, "तू जिसे ब्रह्म कहता है, उसे ही मैं माँ कहता हूँ। जब वह निष्क्रिय है तो ब्रह्म है और सक्रिय है तो माता प्रकृति है।" इस रूप में परमात्मा जब अज्ञान का विषय बनता है तो सृष्टि हो जाता है। सारी व्याधियों की जड़ हैमोह। उस मोह को जीतना होगा। मोह को



वही जीत सकता है, जो ईश्वर को प्राप्त कर ले। ईश्वर को प्राप्त कैसे किया जाए? अपने बल पर अथवा ईश्वर के आश्रय में, उनकी शरण में जाकर। अपने बल पर जीतना कठिन है। उनकी शरण में ही जाना होगा। उसी को भक्ति कहते हैं। कृष्ण कहते हैं कि मेरा सबसे प्रिय भक्त वह है, जिसने अपनी अंतरात्मा मुझे दे दी है। वह कैसे होगा। भगवान् कहते हैं : अपना प्रेम मुझे दो। अपनी आसक्ति मुझे दो। अपना मन और बुद्धि मुझ में लगा दो।

मुझे स्वामी विवेकानन्द की एक उक्ति स्मरण हो आती है। उन्होंने कहा था कि केवल किसी सिद्धांत, व्यक्ति अथवा ग्रंथ पर आस्था प्रकट कर देना ही हिन्दुत्व नहीं है। हिन्दू वह है, जो निरंतर ईश्वर की खोज करता है, उन्हें जानने का प्रयत्न करता है, उनके निकट जाने का प्रयत्न करता है और अंततः उनमें समा जाता है। इस रूप में तपस्या अथवा भक्ति क्या है? जिस ब्रह्म से यह जीवात्मा पृथक् हुआ है, वापस उसी के पास पहुँचना और उस अलगाव को समाप्त करना ही भक्ति भी है और मुक्ति भी।

दूसरा प्रवचन "शरणागतों (भक्तों) की कोटियाँ", पहली स्थापना तो यह करता है कि भक्ति और शरणागति में कोई अंतर नहीं है। भगवान् की शरण में जाना ही भक्ति है; और बिना उनकी शरण में जाए, भक्ति हो नहीं सकती। गीता में चार प्रकार के भक्तों की चर्चा है :

पहली कोटि में आर्त भक्त आते हैं। वे अपना दुख दूर करने के लिए प्रभु के सम्मुख रोते और गिड़गिड़ाते हैं। यह सकाम भक्ति है; स्वार्थ-सिद्धि के लिए ईश्वर के सम्मुख याचक के रूप में प्रस्तुत होना। यह श्रेष्ठ भक्ति नहीं मानी जा सकती। विनोबा भावे ने कहा है कि याचना अनुचित है; किन्तु संतोष यही है कि वह भक्त ईश्वर से याचना कर रहा है, किसी और से नहीं। आज याचना के लिए प्रभु के सम्मुख जाता है, कल बिना याचना के भी जाएगा।

किन्तु ऐसे भक्त भी हैं, जो ईश्वर के दर्शनों के लिए रोते-तड़पते हैं। गोपिकाएँ और मीरा, ऐसे ही भक्त हैं। वे आर्त हैं किन्तु उनकी भक्ति निष्काम है। इसका अर्थ यह हुआ कि आर्त भक्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों को एक कथा सुनाया करते थे :

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा, "गुरु जी ईश्वर के दर्शन कब होते हैं?"

गुरु ने कहा, चलो बताता हूँ। वे उसे एक सरोवर के तट पर ले आए। आदेश दिया कि वह स्नान के लिए, सरोवर में उतर जाए। शिष्य सरोवर में कूद गया। गुरु भी साथ-साथ आ गए। अकस्मात् ही उन्होंने उसकी गर्दन पकड़ कर उसे पानी में डुबो दिया। शिष्य ने बहुत परिश्रम कर अपने सिर को जल से ऊपर उठाया। गुरु ने पुनः उसकी गर्दन को जल में डुबो दिया। इस बार शिष्य साँस लेने के लिए तड़प उठा। उसने गुरु को जोर का धक्का देकर स्वयं को उनसे मुक्त कर लिया और जल से बाहर

आ गया। श्वास ठीक हुआ तो उसने क्रुद्ध स्वर में गुरु से पूछा, "यह आप क्या कर रहे थे? मुझे मार डालना चाहते थे?"

"क्यों क्या हो गया?" गुरु ने शांत भाव से पूछा।

"श्वास के बिना मेरे प्राण निकल रहे थे।"

गुरु हंसे, "जिस क्षण ईश्वर के विरह में इसी प्रकार तुम्हारे प्राण निकलने लगेंगे, उसी क्षण ईश्वर तुम्हें दर्शन दे देंगे।"

यह आर्त भक्त की ईश्वर के विरह में तड़पने की चरम सीमा है।

दूसरी कोटि 'जिज्ञासु' भक्त की है। वह भगवान् के विषय में जानना चाहता है। अधिक से अधिक जानना चाहता है। उसे जानने के लिए तड़प रहा है। उसे जानने के लिए आकाश पाताल एक कर रहा है। वह पूछता है, तो उनके विषय में, खोजता है तो उनको, निकट जाना चाहता है, तो उनके। वह जिज्ञासु है।

तीसरी कोटि अर्थार्थी भक्त की है। ऐसा भक्त अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए, विभिन्न देवताओं की पूजा, आराधना करता है। यह भी सकाम भक्ति है। आर्त से भिन्न है। आर्त कष्ट में है, केवल अपने कष्ट से मुक्ति चाहता है; किन्तु आवश्यक नहीं कि अर्थार्थी भी कष्ट में हो। वह ऐश्वर्य में रह कर भी अर्थार्थी हो सकता है। जितनी सांसारिक सुख-संपत्ति उसके पास है, वह उससे भी अधिक चाहता है; इसलिए वह विभिन्न देवताओं के द्वार पर माथा टेक कर उनसे याचना करता है। भगवान् किसी भक्त की देवताओं के प्रति श्रद्धा को खंडित नहीं करते।

चौथा वर्ग ज्ञानी भक्तों का है। वे ईश्वर को जान चुके हैं। सांसारिक भोगों की निस्सारता से उनका परिचय हो चुका है। जो सारी कामनाओं को लाँघ कर, सारा ज्ञान प्राप्त कर, भगवान् से प्रेम करते हैं, वे ज्ञानी भक्त हैं। वे पूर्णतः निष्काम भक्त हैं। शास्त्री जी ने अपने गुरु स्वामी अखंडानंद से सुनी एक कथा का उल्लेख किया है। भगवान् ने 'आह' का निर्माण किया। वह सुंदर और आकर्षक थी; किन्तु वह जिसके पास भी गई, उसने उससे विवाह करने से मना कर दिया। वह अत्यंत दुखी हो कर भगवान् के पास आई और बोली, "यदि मुझे कुँवारी ही रखना था तो मेरा निर्माण ही क्यों किया?" भगवान् ने उसके पहले 'च' जोड़ दिया। वह 'आह' से 'चाह' हो गई और उसे पाने वालों की भीड़ जमा हो गई।

निष्काम और सकाम कर्म के संदर्भ में यह कथा बहुत महत्त्वपूर्ण है। सकाम कर्म ऊपर से 'चाह' के समान आकर्षक है; किन्तु उसकी मूल प्रकृति 'आह' की ही है। कामना अंततः कष्ट की ओर ही ले जाती है।

इस प्रकार भगवान् के भक्तों अथवा शरणागतों की चार श्रेणियाँ हैं; किन्तु उनमें पूर्णतः निष्काम तो ज्ञानी भक्त ही है। आर्त और जिज्ञासु भक्त भी निष्काम हो सकते हैं, यदि वे केवल भगवान् को ही चाहते हों, केवल ईश्वर की खोज में ही निकले हों।



जीवात्मा, परमात्मा से पृथक् हो कर प्रकृति की माया में फँस गया है। वह आत्मा जो स्वयं आनन्दस्वरूपा है, माया के जाल में फँस कर अपने स्वरूप को भूल कर, दुख उठा रही है। उन दुखों से मुक्त होने का एक ही मार्ग है कि वह वापस प्रभु के पास जा पहुँचे। उसके लिए आवश्यक है कि वह माया का जाल काट दे। उसका एकमात्र मार्ग ईश्वर की भक्ति है। तब प्रश्न उठता है कि जीव तो ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करे, किन्तु क्या प्रभु उपलब्ध भी हैं?

'गीता परिक्रमा' का चौथा प्रवचन है, "प्रभु सुलभ हैं।" हमारे आस-पास ऐसे अनेक लोग मिल जाते हैं, जो यह कहते हैं, कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वे ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। और शास्त्री जी गीता के आधार पर कह रहे हैं कि प्रभु का अस्तित्व ही नहीं है, वे सुलभ भी हैं। हम चाहें तो उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं कृष्ण बता रहे हैं कि उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है। पहला मंत्र है, "माम् अनुस्मर।" प्रायः भाष्यों में अनुस्मर का अर्थ स्मरण करना ही किया गया है। कृष्ण कहते हैं, "मुझे स्मरण कर।" किन्तु शास्त्री जी ने स्मरण और अनुस्मरण में एक सार्थक अंतर किया है। स्मरण का अर्थ तो स्पष्ट ही है, फिर उसके पहले 'अनु' जोड़ने की सार्थकता क्या है? शास्त्री जी ने इसका अत्यंत सुंदर स्पष्टीकरण किया है। पहले कोई स्मरण करता है, फिर अनुस्मरण किया जाता है। शास्त्री जी कहते हैं कि पहले परमात्मा जीव को स्मरण करता है, इसलिए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि तुम मेरा अनुस्मरण करो। मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ, तुम उसे सुनो और मेरी पुकार का उत्तर दो। परमात्मा प्रतिक्षण आत्मा को पुकार रहा है; और आत्मा अपने मोह में लिपटी उस पुकार को सुन नहीं पा रही है। हम किसी को पुकारते हैं और वह हमारी नहीं सुनता तो हम उसे अशिष्ट और अभद्र मानकर उससे रुष्ट हो जाते हैं। किन्तु कृष्ण अनंत काल से हमें पुकार रहे हैं। और हम हैं कि अपने जन्म-जन्मांतरों में भी उनकी पुकार को अनसुना करते जाते हैं। फिर भी कृष्ण निराश नहीं हैं। प्रभु में निराशा का तत्त्व ही नहीं है। वे हमारी इस उपेक्षा की ओर ध्यान नहीं देते। वे कह रहे हैं, उस पुकार को सुनो ही नहीं, उसका उत्तर भी दो। तभी तो प्रभु से संवाद स्थापित हो पाएगा। जितना संवाद स्थापित होगा, उतना ही संबंध घनिष्ठ होगा; और अंततः प्रेम सघन होगा, इस सीमा तक कि आत्मा परमात्मा में समा जाएगी।

नरेन्द्रनाथ दत्त दक्षिणेश्वर जाया करते थे और रामकृष्ण परमहंस को अपना गुरु भी मानते थे किन्तु अभी ब्राह्म समाज के प्रभाव में थे। अतः मूर्ति पूजा को स्वीकार तो नहीं ही करते थे, प्रतिमा को पुत्तलिका कहा करते थे। उनके कष्टों को देख कर रामकृष्ण परमहंस प्रायः ही उन्हें माँ काली के मंदिर में जाने को कहा करते थे। एक दिन वे यहाँ तक कह बैठे कि तू माँ के राज्य में रहता है और उन्हें मानता नहीं है, तो कष्ट तो पाएगा ही। नरेन्द्रनाथ दत्त बोले, यह नहीं कि मैं माँ को मानता नहीं, मैं

तो उनको जानता ही नहीं हूँ। तो रामकृष्ण परमहंस ने उत्तर दिया, तो जा जानने का प्रयत्न कर। जान-पहचान बढ़ा।

यही जान-पहचान हमें प्रभु से बढ़ानी है। और गीता ने उसका पहला सूत्र दिया है, "माम अनुस्मर।" दूसरा सूत्र है, "मय्यर्पितमनोबुद्धि।" अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर। मन और बुद्धि प्रभु को अर्पित करने का एक अर्थ समर्पण भी है; किन्तु दूसरा स्पष्ट अर्थ है कि मन और बुद्धि कहीं और हों तो प्रभु से जान-पहचान कैसे होगी। शायद इसीलिए तब रामकृष्ण परमहंस से उनके शिष्यों ने कहा कि अपने रोग से मुक्त होने के लिए वे अपना ध्यान अपने कंठ के फोड़े पर केन्द्रित करें तो ठाकुर ने उत्तर दिया था कि जो मन ईश्वर को समर्पित कर चुका, उसे अपने रोग को समर्पित कैसे करूँ। इसके विपरीत सांसारिक जन अपना मन और बुद्धि इंद्रिय भोग को समर्पित किए हुए हैं, वे उसे वहाँ से लौटा कर ईश्वर तक कैसे लाएँ। डोंगरे जी महाराज 'इंद्रिय सुख' शब्द का प्रयोग नहीं करते। वे उसे 'इंद्रिय त्रास' कहते हैं। इंद्रियाँ हमें त्रस्त करती हैं तो हम उनका चारा ढूँढ़ने निकलते हैं। इंद्रियों को उनका चारा मिलता है, वे प्रसन्न होती हैं तो हम मान लेते हैं कि इंद्रियाँ हमें सुख दे रही हैं। यहाँ कृष्ण कह रहे हैं कि अपने मन और अपनी बुद्धि को अपनी इंद्रियों के पंजे से मुक्त कर और मुझे समर्पित कर। यह तभी संभव होगा, जब हम बार-बार उनका अनुस्मरण करेंगे। जिस आत्मा ने परमात्मा की पुकार सुन ली, उसे फिर न अपने वस्त्रों का बोध रहा, न अपने शरीर का। उसने घनानन्द के समान ईरानी सिपाही के 'जर, जर, जर' (सोना, सोना, सोना) को पलट दिया और 'रज, रज, रज' (धूल, धूल, धूल) कह उठा।

इस अनुस्मरण में एकाग्रता है। विक्षिप्त मन से तो कोई सांसारिक कार्य भी नहीं हो पाता, ईश्वर प्राप्ति कहाँ से होगी। इसलिए पूरे मन से उनका विश्वास करना होगा। उनपर निर्भर रहना होगा। प्रायः ऐसा नहीं होता। हम कहते तो हैं कि हम प्रभु की शरण में हैं किन्तु विश्वास हमें अपने और अपने संबंधियों के बल का ही होता है। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने अपने भक्तों से कहा कि बहुत कम लोग ईश्वर को मानते हैं। उनके भक्तों ने प्रबल प्रतिवाद किया कि सत्य यह नहीं है। प्रत्येक मंदिर, तीर्थ और दूसरे धर्मस्थल भक्तों से भरे रहते हैं, तो फिर स्वामी जी के ऐसा कहने का कारण क्या है। स्वामी जी ने कहा, "यदि एक बार अपने मन में ईश्वर को बैठा लोगे, तो फिर झूठ बोल सकोगे क्या? रिश्वत दे सकोगे, ले सकोगे? चोरी कर सकोगे? परस्त्री पर वासना भरी दृष्टि डाल सकोगे? नहीं, ऐसा नहीं कर सकोगे। इसलिए जब तब कोई ऐसा करता है, तब तक यही समझो कि वह ईश्वर पर विश्वास नहीं करता।"

शास्त्री जी गीता के आधार पर यही कह रहे हैं कि पूरे तन मन से, पूरी एकाग्रता से, समग्रता से, पूर्णता से ईश्वर की शरण में जाओ।



मुझे अपने एक पुराने परिचित का स्मरण हो आ रहा है। वे दार्शनिक थे या नहीं, दर्शन शास्त्र के आचार्य थे। भारत, इंग्लैंड और अमरीका में पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एक विभाग के अध्यक्ष थे। गीता पर मुझ से चर्चा करते हुए, उन्होंने कहा था कि गीता में है क्या? एक अहंकारी मनुष्य कह रहा है कि सब कुछ छोड़ कर मेरी शरण में आ जाओ।

यह उनका दृष्टिकोण था। उनकी समझ थी। और मुझे भगवान् कृष्ण की वे उक्तियाँ स्मरण हो आ रही थीं, जहाँ उन्होंने कहा है, कि सामान्य जन मुझे इस शरीर में देख कर पहचान नहीं पाते। वे मुझ वासुदेव को साधारण मनुष्य ही मानते हैं।

ठीक कह रहे हैं कृष्ण। दर्शनशास्त्र के वे वामपंथी पंडित उन्हें अपने जैसा पार्टीबंद, संगठन खड़ा करने वाला, अपनी पार्टी की सदस्यता बेचने वाला, अपना नेतृत्व खड़ा करने वाला व्यक्ति ही समझ रहे हैं। वे जीवात्मा, आत्मा और परमात्मा के स्तर का अंतर नहीं पहचान पाते, या पहचानना नहीं चाहते। और मैं तब से अपने मस्तिष्क में एक प्रश्न लिए घूम रहा हूँ कि पूजा, प्रार्थना, अर्चना, उपासना हम करते हैं, तपस्या हम करते हैं, माथा हम टेकते हैं, तीर्थ-यात्रा कर अपने जूतों के तलुवे हम घिसते हैं, चढ़ावा हम चढ़ाते हैं। आज तक कोई प्रमाण नहीं मिला कि हमारे चढ़ावे का लोभ है प्रभु को। उससे वह अधिक धनी हो जाता है। वह हम से माँगता है। हमारे चढ़ावे से प्रसन्न होकर वह पक्षपात करने लगता है। हम तो जानते हैं कि सब कुछ उसका ही है। हम उसके नाम का जप एक लाख बार कर लें तो क्या उसका यश फैल जाएगा। उसे नोबेल पुरस्कार मिल जाएगा? वह अमर हो जाएगा?

हम जो कुछ करते हैं, अपने लिए करते हैं, या उसके लिए करते हैं? और उसे स्मरण कर, उसके नाम पर तपस्या कर, हम स्वयं को स्वच्छ करते हैं, या उसकी पार्टी की सीटें बढ़ाते हैं। हमें यह सोचना होगा, भवसागर में हम फँसे हैं, या वह फँसा है। जन्म-मरण का चक्कर हमारे लिए कष्टकारी है, या उसके लिए। कर्मबंधन में हम बँधे हैं, या वह बँधा है। हम उसे कुछ दे सकते हैं, या वह हमें कुछ दे सकता है? लेना हम को है या उसे?

अर्जुन के माध्यम से गीता सुधी भोक्ता के लिए कही गई। हमारे लिए कही गई है। हमारी सहायता के लिए, हमें मार्ग दिखाने के लिए। हम कुरुक्षेत्र में खड़े नहीं हैं; किन्तु जीवन के कुरुक्षेत्र में अवश्य खड़े हैं। शास्त्री जी ने दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

> "सबको लड़ने ही पड़े अपने अपने युद्ध।
> चाहे राजा राम हों, चाहे गौतम बुद्ध ॥"

प्रभु के आश्रय में जाने के अनेक मार्ग हैं। भक्ति की भी चर्चा है, कर्म की भी और ज्ञान की भी। इन सबको कृष्ण ने योग की सीमा तक पहुँचा दिया है। वे भक्ति और योग में न अंतर मानते हैं, न विरोध। बात केवल एकाग्रता की है। वह एकाग्रता, भाव से हो, कर्म से हो, ध्यान से हो।

"बनै तो रघुबर से बने, कै बिगरै भरपूर।
तुलसी बने जो और तें, ता बनिबे सिर धूर ॥"

इसलिए शास्त्री जी अपने अगले प्रवचन के शीर्षक के रूप में हमें परामर्श दे रहे हैं, "अपना मार्ग चुनिए।"

सामान्यतः भारतीय-अभारतीय सभी धर्मों में कुछ लोक-मान्यताएँ हैं, जो जीवन से अधिक मृत्यूपरांत काल के संबंध में हैं। देहांत के पश्चात् मनुष्य की आत्मा कहाँ जाती है? इस प्रश्न के उत्तर में एक से एक सुखद और एक से बढ़कर एक कष्टदायक लोकों की कल्पना की गई है। अधिकांश लोग धर्म पर चलना चाहते हैं, ताकि वे इस लोक में सुखी रह सकें और मृत्यु के पश्चात् वे स्वर्ग जैसे किसी लोक में सुख भोग सकें। इसी संदर्भ में शास्त्री जी ने गोस्वामी तुलसीदास का एक दोहा उद्धृत किया है :

"को जाने को जमपुर जइहैं, को सुरपुर परधाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत है, जगजीवन रामगुलाम को ॥"

इस दोहे से हम यह भाव भी ग्रहण कर सकते हैं कि तुलसी मृत्यूपरांत विभिन्न लोकों के प्रति यह कह कर अविश्वास प्रकट कर रहे हैं "को जाने", और दूसरी ओर यह भाव भी हो सकता है कि तुलसी ने राम की भक्ति को इस प्रकार आत्मसात् किया है कि अब उनको किसी अन्य लोक, चाहे वह स्वर्ग ही क्यों न हो, की चिंता ही नहीं है। यह शरणागति, भक्ति या नित्ययुक्तता उनके जीवन का अंतिम लक्ष्य है। ऐसी अनन्यता की ही कामना भक्त करता है। यही भक्ति का चरम आदर्श है। शास्त्री जी ने इसी संदर्भ में दो और पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :

"तभी सफल आराधन होता, जब आराधक अपना रूप।
धीरे धीरे तजता जाता, बन जाता आराध्य स्वरूप ॥"

यह स्वामी विवेकानन्द द्वारा की गई हिन्दू धर्म की परिभाषा के अत्यंत निकट ही नहीं, वही है। जो उसमें लय हो जाता है अथवा आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, उसके लिए फिर दूसरी कोई सत्ता ही नहीं रह जाती। शास्त्री जी ने कहा है, "जो अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, उसके लिए दूसरी कोई सत्ता नहीं रह जाती। अनन्यता के होते ही शेष सारी सत्ताओं का लोप हो जाता है। यह अनन्या भक्ति तभी सिद्ध होती है।" अद्वैत वेदांत मानता है कि अस्तित्व केवल ब्रह्म का ही है। रामकृष्ण परमहंस ने कहा था कि "वे ही सब कुछ हुए हैं।" दत्तात्रेय ने अवधूत गीता में कहा है :

"सबकुछ आत्मा ही है। भेदाभेद विद्यमान नहीं हैं। मैं कैसे कह सकता हूँ कि इसका अस्तित्व है, इसका नहीं है। मैं विस्मय से भरा हुआ हूँ।" 4/1 अवधूत गीता।

"संपूर्ण अद्वैत का सार यह ज्ञान-विज्ञान है कि मैं स्वभाव से ही निराकार, सर्वव्यापी आत्मा हूँ।" 5/1 वही



"इसमें कोई संदेह ही नहीं है कि मैं वह परमात्मा हूँ, जो सबकी निर्मल और शुद्ध आत्मा है आकाश के समान।" 6/1 वही

"वस्तुतः मैं अव्यय, अनन्त, शुद्ध विज्ञान-विग्रह हूँ।" 7/1 वही

"मैं, केवल अकेला मैं ही, यह सब कुछ हूँ आकाश और उसके परे। मैं आत्मा को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में कैसे देख सकता हूँ।" 10/1 वही

स्वामी विवेकानन्द ने भी सहस्रद्वीपोद्यान में अपने शिष्यों से कहा था कि आँख सबको देख सकती है किन्तु स्वयं अपने आप को नहीं देख सकती। इसलिए ब्रह्म को देख पाना संभव नहीं है।

तो गीता में ईश्वर तक जाने के दो मार्ग स्पष्ट हैं : पहला शुक्ल मार्ग और दूसरा कृष्ण मार्ग। उनके बहुत सारे लक्षण हैं। लोगों ने उसकी बहुत काल गणना की है; किन्तु शास्त्री जी ने उन्हें स्पष्ट रूप से शुद्ध भक्ति का मार्ग और दूसरा भोग का मार्ग माना है। भक्ति का मार्ग शुक्ल मार्ग है; और भोग का मार्ग कृष्ण मार्ग है। इन दो मार्गों की चर्चा एक लंबी यात्रा के समान है। मार्ग में बहुत सारे सहायक और कठिनाइयाँ हैं।

किन्तु एक छोटा मार्ग भी है, वह सरल भी है। उसपर चलने के लिए कृष्ण कह रहे हैं। वह एक प्रकार से उनका आदेश ही है : "हे अर्जुन, सब समय योगयुक्त रहो। सीमित पुण्य कर्मों से असीम प्रभु की प्राप्ति नहीं होती, अतः इन सीमाओं से ऊपर उठकर असीम प्रभु से युक्त हो जाओ।" इस में सकाम कर्मों की निस्सारता की ध्वनि भी है। बात तो कार्य-कारण की है। असीम कार्य या असीम फल प्राप्त करना है, तो असीम कारण या कर्म भी करना होगा। असीम प्रभु को प्राप्त करने के लिए असीम भक्ति की आवश्यकता होगी। और वह तभी संभव है, जब हम उनके आदेश के अनुसार सदा योगयुक्त रहें। सदा प्रभु में अनुरक्त रहें।

इस सोपान पर आकर एक जिज्ञासा होती है कि जिस प्रभु को प्राप्त करना है, उसका स्वरूप क्या है? शास्त्री जी का अगला प्रवचन ही, "प्रभु का स्वरूप।" ईश्वर के स्वरूप के संदर्भ में हिन्दुओं में एक सामान्य सी उक्ति है कि ईश्वर कण-कण में व्याप्त हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रभु कण-कण के भीतर घुसे हुए हैं और कण को तोड़ कर उनको बाहर निकाला जा सकता है। वस्तुतः अद्वैत वेदांत की मान्यता यह है कि प्रभु किसी वस्तु या पदार्थ के भीतर नहीं हैं। प्रभु ही उस वस्तु या पदार्थ के रूप में प्रकट हुए हैं। किन्तु उनके स्वरूप को जानने के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि हमारी जानी हुई सृष्टि में ही प्रभु सीमित नहीं हैं। सत्य यह है कि उनके एक अंश मात्र में यह जगत् स्थित है। कबीर ने इस सारी अवधारणा को अत्यंत स्पष्टता से कहा है :

"जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहिं समाना, यह तत कथों ज्ञानी ॥"

वस्तुतः जब तक हम रूप और स्वरूप का अंतर स्पष्ट नहीं करेंगे, सत्य प्रकट नहीं होगा। जो भक्त है, जिज्ञासु है, वह रूप को देखता है, अतः वह कहेगा।

(क) मया ततमिदं सर्वं (ख) ईशावास्यमिदं सर्वम् और (ग) सर्वं खल्विदं ब्रह्म

उनके स्वरूप को या तो वे स्वयं जानते हैं, या तत्त्वज्ञ ज्ञानी। परमात्मा या तत्त्वज्ञ की दृष्टि से यह सब है ही नहीं। सब माया है। न तो वे प्रकट हुए हैं। न उन्होंने अपना रूप बदला है। यह सब तो जीव की दृष्टि का भ्रम मात्र है। स्वामी विवेकानन्द ने अमरीका में सहस्रद्वीपोद्यान में अपने शिष्यों से कहा था :

"संपूर्ण इंद्रिय ज्ञान एक भ्रांति है। इस तथ्य को भौतिक विज्ञान भी प्रमाणित करता है। हम किसी वस्तु को जिस प्रकार देखते या सुनते हैं, वह वैसी ही नहीं होती। एक विशेष प्रकार का स्पंदन, विशेष प्रकार के परिणाम को उत्पन्न करता है। वह परिणाम इंद्रियों पर अपना प्रभाव डालता है। वही हमारा इंद्रिय ज्ञान है। अतः हम केवल सापेक्षित सत्य जान पाते हैं।"

"सत्य के लिए संस्कृत शब्द है 'सत्'। हमारी वर्तमान दृष्टि से जगत्प्रपंच, इच्छा और ज्ञानशक्ति के प्रकाश के रूप में प्रतीत होता है। सगुण ईश्वर स्वयं अपने लिए, उतना ही सत्य है, जितने हम अपने लिए हैं, इससे अधिक नहीं। ईश्वर को भी उसी प्रकार साकार भाव में देखा जा सकता है, जैसे हमें देखा जा सकता है। जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमें ईश्वर का प्रयोजन है; हम जब स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाएँगे। तब हमें ईश्वर का प्रयोजन नहीं रह जाएगा। इसलिए श्री रामकृष्ण परमहंस देव उस जगज्जननी को सदा-सर्वदा वर्तमान देखते थे। वे अपने आसपास की सभी वस्तुओं की अपेक्षा, उन्हें अधिक सत्य रूप में देखते थे। किन्तु समाधि की अवस्था में उन्हें आत्मा के अतिरिक्त, और किसी वस्तु का अनुभव नहीं होता था। सगुण ईश्वर क्रमशः हमारी ओर अधिकाधिक आता जाता है, अंत में मानो वह गल जाता है। उस समय न ईश्वर रह जाता है, न 'अंह'। सब उसी आत्मा में लय हो जाता है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने इसे इस रूप में कहा है :

"कोउ कह सत्य, झूठ कह कोउ, जुगल प्रबल कर कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपौ पहचाने ॥"

अनासक्त भक्ति से ईश्वर के साथ एक हो जाने के पश्चात् द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य सब एक हो जाते हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का तादात्म्य हो जाता है। किन्तु जब तक मनुष्य उस स्थिति तक विकसित नहीं होता, तब तक भक्ति का रूप है परम प्रेम। भक्त, ईश्वर पर इतना निर्भर है कि वह मानता है कि वह स्वयं अपने बल पर ईश्वर को नहीं जान सकता। उसके लिए ईश्वर की कृपा आवश्यक है : "सोई जानत, जेहू देहि जनाई।"



जब प्रभु की कृपा से ही उसको जानना है, तो उसको भजने की विधियों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। शास्त्री जी के अगले प्रवचन का शीर्षक है : "प्रभु भजन की विधियाँ।" विधियों से भी पहले वे गीता में बताए गए दैवी और दानवी गुणों की चर्चा करते हैं। भक्त दैवी गुणों से युक्त होता है। दानवी गुण भक्ति की ओर प्रेरित नहीं करते। शास्त्री जी भक्ति के लिए अनिवार्यअभय से विनय तकछब्बीस दैवी गुणों की चर्चा करते हैं। ईश्वर भक्ति में दैवी संपदा 'अनन्यता' अत्यंत महत्त्वपूर्ण ही नहीं, प्रायः अनिवार्य है। अनन्य भक्त वह है, जो सारे संसार को अपने प्रभु के रूप में देखता है। अनन्य चित्त तो वही हो सकता है, जो प्रभु के अतिरिक्त और किसी की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता। वह नित्ययुक्त है। नित्ययुक्त रहने की अनेक विधियाँ हैं। पहले कीर्तन की चर्चा आती है। फिर ज्ञान-यज्ञ है। श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन और उनका प्रवचन भी तप है। यह वाणी की तपस्या है। भगवान् का भजन एक ही प्रकार से किया जाए, इसकी बाध्यता सनातन धर्म में नहीं है। भक्ति हो या ज्ञान-यज्ञ, दोनों के द्वारा ही अभेद की प्राप्ति होती है। कबीर ने कहा है :

"मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि ॥"

कुछ इसी प्रकार की उक्तियाँ दत्तात्रेय की 'अवधूत गीता' में मिल जाती हैं, जहाँ वे कहते हैं कि मेरे सिवाय यहाँ और है ही कौन? मैं किसको नमन करूँ? रामकृष्ण परमहंस भी पूजा करते हुए अनेक बार माँ को पुष्प अर्पित करते हुए, उन पुष्पों को अपने ही शीश पर डाल लेते थे। माँ को अर्पित किया जाने वाला प्रसाद भी स्वयं खा लेते थे।

किन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पहले भक्ति की आवश्यकता को गीता भी रेखांकित करती है और शास्त्री जी भी उस पर बल देते हैं। प्रभु से कोई भी संबंध जोड़ कर उनकी भक्ति की जा सकती है। वे कहते हैं, "जो संबंध तुम राम से जोड़ना चाहो, जोड़ो; किन्तु फिर उसपर अटल रहो।" अंततः सारे रास्ते वहीं ले जाते हैं।

किन्तु फिर भी शास्त्री जी का कहना है कि समर्पण के बिना भक्ति नहीं होती। ध्यातव्य है कि गीता के सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए शास्त्री जी, प्रायः उदाहरण रामचरितमानस से देते हैं। उससे वह सिद्धांत तो स्पष्ट होता ही है, साथ में यह बात भी ध्यान में आती है, गीता और रामचरितमानस के प्रतिपाद्य में कोई विशेष अंतर नहीं है। जिन भी सिद्धांतों की चर्चा दोनों में है, वहाँ बिंब-प्रतिबिंब भाव है, या पूर्ण तादात्म्य है। प्रायः समर्पण के लिए भी शास्त्री जी ने रामचरितमानस से ही उदाहरण दिए हैं :

1. गुरु पितु मातु न जानउँ काहू, कहहूँ सुभाउ नाथ पतिआहू।
जहँ लगि जगत् सनेह सगाई, प्रतीति प्रीति निगम निज गाई।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी, दीनबंधु उर अंतरयामी।

2. सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामी भगवंत ॥

और गीता में श्रीकृष्ण उस भक्त के विषय में अपनी ओर से आश्वासन दे रहे हैं : "तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।"

भक्ति को एक प्रकार का कर्म मान लिया जाए तो वह भी कर्म के समान ही सकाम और निष्काम हो जाती है। सांसारिक सुख की कामना सकाम भक्ति है; और स्वयं ईश्वर को पाने की कामना, निष्काम भक्ति है। सकाम भक्ति के लिए, लोग प्रतिदिन नए से नए देवता की खोज करते रहते हैं। विभिन्न देवी-देवताओं, संतों-फकीरों की अपने-अपने प्रकार की प्रसिद्धि है। लोग उनसे उसी प्रकार की कामनाएँ करते हैं। उनके मन में यह विचार नहीं आता कि जब वे अपनी कामनापूर्ति के लिए नए से नए देवता के द्वार पर माथा टेकते हैं तो वे अब तक पूजे गए देवताओं का तिरस्कार भी करते हैं। शास्त्री जी इस बात को रेखांकित करते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं यह कहते हैं कि वे किसी भी भक्त की उसके अपने प्रिय देवता के प्रति आस्था को न तो निर्बल करते हैं न नष्ट। वे उसे पुष्ट ही करते हैं, क्योंकि उस देवता के माध्यम से वह भक्ति पुनः स्वयं श्रीकृष्ण तक ही पहुँचती है। फिर भी शास्त्री जी भक्ति की अनन्यता के उदाहरण स्वरूप तुलसीदास की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं : "देहि मा मोहि पन प्रेम यह नेम निज, राम-घनश्याम तुलसी-पपीहा।" तथा, "माँगत तुलसीदास कर जोरे, बसहिं रामसिय मानस मोरे।" इन तथा ऐसी ही अन्य पंक्तियों में तुलसीदास किसी भी देवी-देवता की स्तुति करें, किन्तु वे उनसे रामभक्ति ही माँगते हैं।

अगला प्रवचन अविकंप योग है। श्रीमद्भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में, ब्रह्मविद्या के परिधान में योगशास्त्र ही प्रकट हुआ है। इस प्रसंग में शास्त्री जी 'योग' का अर्थ 'भगवान् से जोड़ने की युक्ति' स्वीकार करते हैं।

यहाँ शास्त्री जी ने एक महत्त्वपूर्ण अर्थ को उद्घाटित किया है। गीता के 'विभूति योग' में भगवान् ने कहा है कि मैं वृक्षों में अश्वत्थ हूँ तो हम लोग पीपल की पूजा करने लगते हैं : किन्तु शास्त्री जी ने इस सारे विभूति-योग को एक मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं, "विभूति अर्थात् विशेष भावना। इस संसार में जो विभूतियाँ हैं, उन्हें हम समझ लें। भगवान् के विशेष रूप का अनुभव कर लें। भगवान् की क्षमता, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य इत्यादि का जहाँ विशेष रूप से अनुभव होता है, वह विभूति है। योग भगवान् का स्वरूप है, विभूति भगवान् का रूप है। जल योग है और बर्फ विभूति है।" स्पष्ट है कि पीपल की पूजा करने से हम भगवान् के शब्दों को ठीक नहीं समझ रहे। ब्रह्म प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त ही नहीं है, ब्रह्म ही उस रूप में हमारे सम्मुख हैं। वृक्षों में वे ही हैं; किन्तु जहाँ विशेष शक्ति दिखाई देती है, और उसका रूप सात्विक है, वह ब्रह्म की विभूति है। इस तर्क को हम समझ जाएँ तो इस सृष्टि में ब्रह्म को देख पाने की हमारी क्षमता बढ़ जाएगी।



यहाँ मुझे हरिद्वार के स्वामी दयानन्द सरस्वती की एक बात स्मरण हो आती है। वे कहते हैं कि यदि हम भौतिकशास्त्र का अध्ययन करते हैं, तो हम कोई सांसारिक विज्ञान नहीं पढ़ रहे, हम ब्रह्म का मस्तिष्क ही पढ़ रहे हैं। यह इसलिए है, क्योंकि ब्रह्म ही इस सृष्टि के निमित्तोपादान कारण हैं। निमित्त और उपादान कारणवे दोनों ही हैं। जब अधिष्ठान कारण भी वे ही हैं, तो सारे वृक्षों के रूप में वे ही हैं; किन्तु अश्वत्थ में उनकी विशेष विभूति प्रकट हुई है। शास्त्री जी ने गुरु गोविंदसिंह के संदर्भ में उनके एक शिष्य की असाधारण रूप से सुंदरी कन्या की कथा दी है। गुरु ने उस कन्या को देखा और कहा कि भगवान् कितने सुंदर हैं। वह भगवान् का सौन्दर्य है, भगवान् की विभूति है। इस प्रकार हम संसार की प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु में भगवान् के दर्शन कर सकते हैं। जब सब ओर वह ही है, सारा रूप और सारी शक्ति उसी की है तो भगवान् का कहना उचित ही है, "तुम अपना मन मुझ में लगा दो, अपना प्रेम मुझे दो, मेरा यजन करो, मुझको नमस्कार करो। तुम निश्चय ही मुझे प्राप्त करोगे।"

इसी समर्पण को 'अविकंप योग' भी कहा गया है। वह योग जो किसी भी स्थिति में, किसी भी प्रलोभन, भय, घृणा-क्रोध की स्थिति में विचलित न हो। मृत्यु के समय भी। गीता की मान्यता है कि 'भक्ति' और 'ज्ञान' में कोई भेद नहीं है। इसलिए इस प्रकार के समर्पण और अविकंप योग की स्थिति में भक्त को ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। यह भक्ति के मार्ग से ज्ञान तक पहुँचना है।

अगला प्रवचन विभूतियोग का पहला खंड है। यह प्रवचन ज्ञान-मार्ग से प्रभु-प्राप्ति की चर्चा करता है। ज्ञानप्राप्ति के लिए श्रद्धा, उद्यम, और इंद्रिय संयम अनिवार्य शर्तें हैं। केनोपनिषद् का समापन प्रसंग है : गुरु सारा उपनिषद् कह चुके तो शिष्य कहता है, "गुरुवर! मुझ से उपनिषद् कहिए।" गुरु हंस कर कहते हैं, "वत्स! तुम से उपनिषद् ही कहा है; किन्तु इसको समझने का आधार है तप, दम, और निष्काम कर्म। उसका आयतन है, सत्य। यदि सत्य का ही पालन नहीं होगा तो वह ब्रह्म विद्या कैसे समझ में आएगी।" इसी संदर्भ में शास्त्री जी की स्थापना है कि गुरु के प्रति विनय, परिप्रश्न का अधिकार, सेवा का भाव आवश्यक तत्त्व हैं। गीता में अर्जुन ने पहली बार यहाँ कृष्ण को ब्रह्म कहा है : "परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।" भक्ति में भी ऐसा ही समर्पण है और ज्ञान प्राप्ति के लिए भी गुरु के प्रति वैसा ही समर्पण है। और यहाँ तो स्वयं भगवान् ही गुरु हैं। इसीलिए कृष्ण को परम गुरु कहा जाता है। कृष्ण कहते हैं : "जो मेरी विभूति को, जो मेरे योग को तत्त्वतः जान जाएगा, वह अविकंप योग से मुझ से युक्त हो जाएगा।" यही तो भक्ति का भी परिणाम है। विभूति-योग कहता है कि इस संसार में जो कुछ भी जड़-चेतन है, उसको परमात्मा से आच्छादित कर दो। परमात्मा उसमें है, यह समझ लो। और कृष्ण अर्जुन

से कहते हैं कि तुमने पूछा है कि मैं किस रूप में चिंतन करूँ। तुम्हारे ही अंतःकरण में जो प्रत्यगात्मा (सबसे भीतर आत्मा) है, वही मैं हूँ। तुम्हारे भीतर आत्मा के रूप में मैं स्थित हूँ। उसी के रूप में मेरा चिंतन हो तो अच्छा है।

शास्त्री जी ने योग और विभूति को कई प्रकार से परिभाषित किया है। एकता में विविधता को प्रकट कर देना, विभूति है; और सारी विविधता में एकता को देख लेना योग है। एक अनेक बन जाता है, और उस अनेक में एक को देखने की क्षमता योग है। जुड़ने की क्षमता योग है और उस अनेक रूपों में उस एक को पहचानने की क्षमता विभूति है। गीता में 73 विभूतियाँ बताई गई हैं।

अगला प्रवचन विभूति योग का दूसरा खंड है। शास्त्री जी कहते हैं, "हम बातें कर रहे हैं, इस कमरे में। यहाँ भी राम जी हैं। इस बात को निरूपित करना अलग बात है और उसे हृदय से ग्रहण करना और बात है। हमारे पुरखों ने उसे ग्राह्य बनाने के लिए, कैसी-कैसी युक्तियाँ खोजी हैं, पहले उसको समझें तो फिर विभूतियोग ठीक से समझ सकेंगे।"

केवल यह वक्तव्य दे देने से कि कण-कण में ईश्वर है, साधारणतः हम उसके सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। अतः आवश्यक हो जाता है कि कुछ ऐसी विधियाँ अपनाई जाएँ कि यह सत्य कुछ मुखर हो कर सामने आए और हम उसे ग्रहण कर पाएँ। इसका पहला उदाहरण तो मंदिर ही है। प्रभु सारी सृष्टि में व्याप्त हैं। हमें उनका कहीं आभास हो न हो; मंदिर में प्रवेश करते ही हम सावधान हो जाते हैं कि यह प्रभु का घर है। वैसे ही तीर्थों का निर्माण हुआ। कभी-कभी उसके पीछे कोई विशेष घटना भी होती है। जगन्नाथपुरी में समुद्र को लहराता देख चैतन्य महाप्रभु को आभास हुआ कि यह तो मेरे कृष्ण हैं और वे उसमें कूद पड़े। उसी प्रकार किसी विशिष्ट दिवस को महत्त्वपूर्ण बनाया जाता है। दिन तो सामान्य ही होता है, किन्तु वह किसी का जन्मदिवस होता है, तो वह उसके लिए विशिष्ट हो जाता है। प्रभु स्मरण की दृष्टि से रामनवमी, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, एकादशी, पूर्णिमा इत्यादि महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। उन विशिष्ट दिनों में प्रभु का स्मरण न हो, ऐसा संभव ही नहीं है।

अर्जुन का प्रश्न है कि मैं किस-किस रूप में तुम्हारा चिंतन करूँ। भगवान् ने विभूति के रूप में प्रायः प्रत्येक स्थान, वनस्पति, जीव-जंतु, देवी-देवता के रूप में अपना परिचय दे दिया। भक्त तो प्रकृति का सुंदर रूप देखते ही भगवान् को स्मरण करने लगता है। हमारी प्रवृत्ति भगवान् की ओर हो तो श्यामल मेघ देखते ही उनका स्मरण हो आता है। हिमालय के शिखरों को देखते ही प्रभु की महिमा साक्षात् होने लगती है। गंगा की धारा का स्पर्श होते ही, जैसे दिव्यता हमारे सामने आ खड़ी होती है। तभी समझ में आता है कि प्रभु हमारी प्यास बुझाने को मेघ बनकर बरसते हैं। हमारी भूख मिटाने को अन्न के रूप में धरती फोड़ कर उगते हैं। सृष्टि को ऊर्जा देने को सूर्य



बनकर तपते हैं। इसी संदर्भ में शास्त्री जी स्पष्ट करते हैं, "मेरे इष्टदेव राम हैं, उनके साथ सहज ही मेरा तादात्म्य होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि और रूपों में ईश्वर नहीं हैं जहाँ भी जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसके माध्यम से हमें प्रभु से जुड़ना चाहिए।"

एकेश्वरवाद इस सत्य को स्वीकार नहीं कर सकता। यही कारण है कि शास्त्री जी ने यहाँ एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद का अंतर भी स्पष्ट कर दिया है।

विभूतियों की चर्चा के पश्चात् विश्वरूप दर्शन का उल्लेख स्वतः आ जाता है। भगवान् ने कहा कि जो मेरे योग और मेरी विभूति को तत्त्वतः समझ लेता है, उसको अविकंप भक्तियोग की प्राप्ति होती है। अपने स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने बताया कि मैंने इस सारे संसार को नियंत्रित कर अपने एक अंश द्वारा यह स्वरूप धारण कर रखा है। स्वभावतः यह जानने के पश्चात् अर्जुन ने उस रूप को देखने की इच्छा प्रकट कर दी। इस संदर्भ में शास्त्री जी ने दो शब्दों का विशेष रूप से विश्लेषण किया है 'कृपा' और 'अनुग्रह'। कृपा अहैतुकी होती है; और अनुग्रह, किसी ग्रहण के पश्चात् होता है। जिसने मुझ को ग्रहण किया है, उसपर मैं अनुग्रह करता हूँ। वे अपने मित्र पर कृपा तो कर ही रहे थे। अब अपने भक्त पर अनुग्रह भी कर दिया।

यहाँ शास्त्री जी ने एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवधारणा को स्पष्ट किया। "भगवान् का विश्वरूप, उनका निर्विकल्प निराकार रूप नहीं है। यह मायामय जगत्-रचयिता का समग्र रूप है।" भगवान् ने कहा, "मैं सारी सृष्टि में जिस रूप में व्यक्त हूँ, उसको एकत्र, एक स्थान पर देखो।" यह चर्चा वेदों के 'पुरुष सूक्त' के ही अनुरूप है। इस रूप को देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को दिव्य चक्षु दिए।

'चर्म चक्षु' और 'दिव्य चक्षु' हमारे लिए परिचित संज्ञाएँ हैं। शास्त्री जी ने यहाँ 'ब्रह्म चक्षु' अथवा 'ब्रह्म दृष्टि' की चर्चा भी की है। उन तीनों का अंतर स्पष्ट करते हुए, उन्होंने कहा है कि चर्म चक्षु वे हैं, जिनसे हम स्वाभाविक संसार में अनेक को देखते हैं। पृथक्-पृथक् देखते हैं। दिव्य चक्षु वे हैं, जिनसे अनेक, एक ही स्थान पर दिखाई देते हैं। संसार की यह अनेकता एक ही में दिखाई देती है। ब्रह्म दृष्टि अथवा ब्रह्म चक्षु वे हैं, जिनसे दिखता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जीव की दृष्टि से यह सारा सृष्टि का ही पसारा है। दिव्य दृष्टि होती है, तो सब को, अलग-अलग को, एक ही में देख लेती है, प्रत्यक्ष। अनुमान या ज्ञान से समझ लेना कि वही प्रभु सभी में व्यक्त हो रहे हैं, यह एक प्रकार का विकसित बुद्धि-वैभव है। किन्तु उसको प्रत्यक्ष देख लेना कि एक ही में सब कुछ है, दिव्य दृष्टि है। ब्रह्म दृष्टि अथवा आत्म दृष्टि से देखने पर, ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी प्रकार का कोई अस्तित्व है ही नहीं।

यह सारा जगत् ब्रह्म के एकांश में ही स्थित है। इस ब्रह्मांड के बाहर भी ब्रह्म है। वह सारा का सारा यहीं व्यय नहीं हो गया है।

अर्जुन ने जो माँगा, प्रभु ने उसे दिखा दिया। इसलिए शास्त्री जी का अगला

प्रवचन है : 'विश्वरूप दर्शन की अनुभूति।' उस विश्वरूप को देख कर अर्जुन प्रसन्न नहीं हुआ। उसकी व्यथा और व्याकुलता स्पष्ट है। वह व्यथित क्यों है, का स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्री जी ने कहा है, "अर्जुन ने जो माँग लिया और भगवान् ने जो उसे दे दिया, वह उसकी क्षमता से अधिक था। वह उसे सहन नहीं कर सका।" शास्त्री जी ने यह चेतावनी भी दी है कि अपनी क्षमता से अधिक नहीं माँगना चाहिए। उस विश्वरूप की जो विशेषताएँ शास्त्री जी ने स्पष्ट की हैं, उनका समाहार संक्षेप में करें तो वह अद्भुत है। एक ही समय में अर्जुन 'निर्गुण-निराकार', 'सगुण-निराकार' तथा 'सगुण-साकार' को प्रत्यक्ष देख रहा है। इन तीनों रूपों के साथ वह तीनों लोकों और तीनों कालों को भी एक साथ देख रहा है। वर्तमान में खड़ी हुई सेनाओं और भविष्य में महाकाल के चबाए जाते हुए भीष्म और द्रोण को भी देख रहा है। वह विस्मय के पश्चात् भय प्रकट करता है। भगवान् से प्रार्थना करता है कि वे अपना मधुर रूप दिखाएँ।

मधुर रूप दिखाने से पहले भगवान् कुछ अवधारणाओं को स्पष्ट करते हैं। वे अर्जुन को निमित्त भर बनने को कहते हैं। इसी संदर्भ में शास्त्री जी ने निमित्त की धारणा और प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। वस्तुतः चर्चा किए बिना ही भगवान ने यहाँ ऋत् के नियम की प्रक्रिया को स्पष्ट कर दिया है। कर्म सिद्धांत भी उसका एक अंग है। आतताई अपने पाप से मारा जाता है। हमारा जन्म, मृत्यु और जीवन की परिस्थितियाँ और घटनाएँ हमारे अपने कर्मों के परिणाम-स्वरूप निर्धारित होती हैं। यहाँ भी सामने खड़े योद्धा महाकाल द्वारा नष्ट किए जा चुके हैं। अब स्थूल रूप से उस कार्य को संपादित करने का निमित्त कोई भी बन जाए। भगवान् ने कहा, "मैं महाकाल हूँ और इस समय इस लोक के विनाश की ओर अग्रसर हूँ।" तो वह विनाश तो होना ही है, अर्जुन युद्ध करे या न करे। "तुम युद्ध करो न करो, दोनों सेनाओं के वीर काल-कवलित हो चुके हैं। मैं उनका वध कर चुका हूँ। तुम निमित्त मात्र बनो और यश पाओ।"

यहाँ भगवान् अर्जुन से यह नहीं कह रहे कि तुम इन्हें मारो या यह कर्म करो। वे कह रहे हैं कि तुम स्वयं को कर्ता मत मानो, तुम निमित्त बनो। स्वयं को कर्ता मानोगे तो निमित्त नहीं बन पाओगे। निमित्त और कारण में अंतर है। निमित्त अर्थात् भगवान् के हाथ का यंत्र। रामकृष्ण परमहंस ने कहा, "आमि जंत्र, तुमि जंत्री।" अतः हमें निमित्त बनने की योग्यता अर्जित करनी होगी। निमित्त की योग्यता साधारण नहीं है। उसके लिए कर्ता के अहंकार, स्वतंत्रता के अहंकार का त्याग करना पड़ता है, जो सरल नहीं है। उसके लिए संपूर्ण समर्पण करना पड़ता है। जब हम समर्पण करते हैं तो प्रभु अपनी इच्छानुसार हम से काम लेते हैं :

"उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत रामु गोसाईं ॥"



एक उदाहरण उन्होंने और भी दिया है कि जब भक्त पूर्णरूपेण समर्पित हो जाता है, तो ईश्वर उसकी सारी पीड़ा भी स्वयं ही सहन करते हैं। मेघनाद के शक्तिप्रहार के पश्चात् जब लक्ष्मण की मूर्च्छा टूटती है, तो वे अपने घाव की पीड़ा के विषय में कहते हैं : "घाव हृदय मेरे, पीर रघुबीरे।" इसी संदर्भ में एक और महत्त्वपूर्ण बात की ओर शास्त्री जी ने संकेत किया है। "निमित्त बनने का अर्थ निकम्मा बनना नहीं है। निमित्त का अर्थ है, कर्ता का अहंकार छोड़ कर अपने चरम पौरुष का प्रदर्शन करना।" सचमुच यह बड़ा संकट है। स्वयं को निमित्त मानकर अथवा स्वयं को ईश्वर पर आश्रित मान कर यदि व्यक्ति निष्क्रिय हो कर बैठ जाए, तो गीता का सारा कर्म का उपदेश ही व्यर्थ हो जाएगा। आरम्भ में ही कृष्ण ने कहा है, "अकर्म में तेरी प्रीति न हो।" इसीलिए शास्त्री जी कहते हैं कि व्यक्ति अपना चरम पौरुष प्रदर्शित करे। बस, कर्ता का अहंकार उसके मन में न आए। शास्त्री जी कहते हैं, "भगवान् की शक्ति हम पर, आप पर उतरे; किन्तु यह तभी संभव है, जब हम अपनी शक्ति का अहंकार छोड़ दें।" कर्म छोड़ दें, ऐसा वे नहीं कहते।

अर्जुन ने एक प्रकार से भगवान् को प्राप्त कर लिया; अतः यह आवश्यक हो जाता है कि भगवत्प्राप्ति के साधनों पर विचार कर लिया जाए। शास्त्री जी आरम्भ में ही कह देते हैं कि "अपनी पात्रता से अधिक नहीं माँगना चाहिए।" कारण स्पष्ट है। एक तो पात्रता से अधिक मिलता नहीं, मिल जाए तो अर्जुन के समान भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ती है कि वे उसे लौटा लें। इसी संदर्भ में उन्होंने विराट रूप संबंधी कुछ चर्चा भी की है। वे कहते हैं कि "भगवान् ने अपने विराट रूप के दर्शन कुछ और अवसरों पर भी दिए हैं; किन्तु कहीं भी इस प्रकार दोनों सेनाओं के काल के गाल में समाते नहीं दिखाया है। और पहली बार अर्जुन को ही यह प्रतीति हुई कि यह भगवान् का विराट रूप है।" अर्जुन को ही यह प्रतीति क्यों हुई? "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।" आत्मा बलहीन के द्वारा प्राप्त नहीं होती। अर्थात् बलहीन को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द ने भी बार-बार कहा कि हमें बल की आवश्यकता है। हमें सशक्त शरीर चाहिए; सशक्त मस्तिष्क चाहिए और सशक्त आत्मा चाहिए। निर्बल को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। हम कैसे शाक्त हैं, यदि हम शाक्ति का महत्त्व ही न पहचानें। वह गीता का ही संदेश है। स्वामी जी के विषय में एक घटना प्रायः सुनाई जाती है। शारीरिक रूप से दुर्बल एक युवक उनके पास गीता पढ़ने की अभिलाषा ले कर गया। स्वामी जी ने उससे कहा कि गीता पढ़ने से अच्छा है कि वह फुटबॉल खेले। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि गीता पढ़ने से फुटबॉल खेलना श्रेयस्कर है, वरन् इसका अर्थ इतना ही है कि शक्तिविहीन युवक को गीता पढ़ने का कोई लाभ नहीं है। पहले वह सशक्त बने, तब गीता का अध्ययन करे, ताकि उसके संदेश को आत्मसात करने में समर्थ हो सके।

तो बात ईश्वर प्राप्ति के साधनों की थी। स्वामी विवेकानन्द, आदि शंकराचार्य

की एक उक्ति को प्रायः स्मरण करते थे कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए तीन सुयोग आवश्यक हैंमनुष्य का जीवन। ईश्वर प्राप्ति की तीव्र इच्छा। किसी सक्षम गुरु का संपर्क। शास्त्री जी ने इस तीनों बातों को ठीक उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। ईश्वर प्राप्ति के लिए सामान्य जन प्रायः जिन साधनों को आवश्यक मानता है, भगवान् ने स्वयं ही उसका निषेध कर दिया है, "न वेद से, न तपस्या से, न दान से, न यज्ञ से, मुझे देखा जा सकता है।" वस्तुतः कहा यह जा रहा है कि ये सारे साधन सकाम हैं। सकाम क्रिया से सीमित फल होता है; अतः सकाम क्रिया से असीमित ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अंततः वे अर्जुन को ईश्वर-प्राप्ति का मूल मंत्र बताते हैं, "हे परंतप अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से ही इस प्रकार मुझ को जानना, मुझ को देखना और मुझ में प्रवेश कर जाना संभव है।" और अनन्य भक्ति का अर्थ है : अपनी क्षमता से प्रभु को प्राप्त करने के अहंकार का त्याग। वे कहते हैं, "मुझ को परम मानो। मेरे आश्रय में आओ। मुझ पर निर्भर करो। अपनी क्रिया, अपनी बुद्धि और अपना प्रेम मुझ को दे दो।"

इस सोपानभक्ति-योगतक आने के लिए कुछ विधियाँ होनी चाहिए। उन विधियों के रूप में वे संगवर्जितःअनासक्त होने, सारे जीवों के प्रति निर्वैर होने, ज्ञान से अपने पापोंकर्म बंधन को धो डालने का उल्लेख करते हैं। ऐसे लोग निर्गुण, निराकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। वे सतत युक्त हैं। उनकी श्रद्धा में किसी भी स्थिति में, कभी भी दरार नहीं पड़ती।

उपासना की विधियों में सबसे बड़ा प्रश्न सगुण उपासना और निर्गुण उपासना का है। गीता का कहना है कि विधियाँ चाहे भिन्न हों किन्तु उनका लक्ष्य एक ही है; और परिणाम भी एक ही होता है। वस्तुतः हिन्दू धर्म का मूल मंत्र ही यह है कि ईश्वर को प्राप्त करने का कोई एक ही मार्ग नहीं है। शिकागो की धर्म संसद में अपना परिचय देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने शिव महिम्न स्तोत्र का पाठ किया था, "विभिन्न स्रोतों से निकल कर अंततः समुद्र में मिलने वाली नदियों के समान हे प्रभो, भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न कुटिल अथवा सरल मार्गों से जाने वाले लोग अंत में आकर तुझ में ही मिल जाते हैं।" गीता में कृष्ण इसी के समकक्ष कहते हैं, "हे अर्जुन, जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।"

मुझे लगता है कि भक्ति की विधि से अधिक महत्त्वपूर्ण है, भक्त के लक्षण। शास्त्री जी ने भी उसे पूरा महत्त्व दिया है। उनका अगला प्रवचन हैभक्तों के लक्षण। उसमें सब से चौंकाने वाली बात यह है कि वे भक्त और भगवान् में एक प्रकार का पूर्ण साम्य बता रहे हैं, "संत में और भगवान् में तनिक सा भी अंतर नहीं है। भगवान् और भक्तों के लक्षणों का साम्य, इस बात को रेखांकित करता है कि वे संत भगवन्मय हो चुके हैं। तो संत भगवन्मय नहीं हैं, उनके ऐसे लक्षण नहीं होंगे।" वे यह भी



स्वीकार करते हैं कि ये लक्षण स्थितिप्रज्ञ और त्रिगुणातीत ज्ञानी के लक्षणों से बहुत मिलते हैं। इसका अर्थ है कि भगवन्मय हुए बिना कोई स्थितप्रज्ञ और त्रिगुणातीत ज्ञानी हो ही नहीं सकता। ये चार प्रकार के भक्तों में से केवल ज्ञानी भक्तों के लक्षण हैं। किन्तु साथ ही साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपनी पराकाष्ठा में कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग एक ही हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि उस सोपान तक पहुँचते-पहुँचते सारे भक्त ज्ञानी भक्त हो जाते हैं। यह सिद्धांत साधक भक्तों पर लागू नहीं होता, केवल सिद्ध भक्तों के विषय में ही यह कहा जा सकता है। जब भक्त, भगवन्मय हो गया, वह भगवान् में प्रवेश कर गया, तब ही भक्त और भगवान् के लक्षण एक हो सकते हैं।

पहला लक्षण अद्वेष्टा होने का है। भक्त किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं रखता। हम जानते हैं कि भगवान् भी किसी से द्वेष नहीं करते। यदि ईश्वर के विषय में कहा जाए कि वह उक्त-उक्त प्रकार के लोगों से द्वेष करता है, तो निश्चित रूप से यह भगवान् के लक्षणों को ले कर भ्रम की स्थिति है। सर्वभूतानाम मैत्रः। भक्त सब प्राणियों का मित्र है। यह लक्षण भी भगवान् का ही है, और पहले लक्षण का पूरक ही है। जो मित्र है, वह द्वेष नहीं करेगा और जो द्वेष नहीं करेगा, वही मित्र हो सकता है। भगवन्मय हो जाने के पश्चात् भक्त दुखी नहीं रहता। वह स्वयं को दुखी नहीं मानता। इसलिए अन्य लोगों को स्वयं से अधिक दुखी मानकर, करुणा से प्रेरित होकर उनके दुख का निवारण करने का प्रयत्न करता है। उसकी करुणा में आसक्ति का भाव नहीं है। वह पूर्णतः निर्भय होता है : भय काहू को देत नहीं, नहिं भय मानत आप। न संसार से उद्विग्न होता है, न संसार को उद्विग्न करता है। वह असंग, अनासक्त, निर्वैर, निर्मम, निरहंकार, सुख-दुख में समान, क्षमी, निर्लोभ, यतात्मा दृढ़निश्चय, संयमी, तितिक्षु, अनपेक्ष होता है। शास्त्री जी ने इस संदर्भ में दो सुंदर पंक्तियों को उद्धृत किया है :

> "चाह गई, चिंता मिटी, मनुवा बेपरवाह। जिनको कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह।"

भक्त का एक बड़ा गुण शुचिता भी है। किन्तु शास्त्री जी ने 'अर्थ-शुचिता' पर विशेष बल दिया है। शरीर की शुचिता तो अपने स्वास्थ्य अथवा बाहरी प्रदर्शन के लिए है। प्रायः देखा जाता है कि अर्थ का लोभ मन की शुचिता का तत्काल हरण कर लेता है। दक्ष, उदासीन, सर्वारंभपरित्यागी, तुल्यनिंदास्तुति, मौनी, अनिकेत, स्थिरमति आदि भी उसके गुण हैं। यदि इन सब का विश्लेषण किया जाए, तो हम पाएँगे कि ये सब प्रायः एक-दूसरे पर निर्भर हैं; और एक ही गुण के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। मूल बात इतनी ही है कि यदि मन प्रभु से युक्त हो गया तो सांसारिकता का तनिक भी मोह नहीं रह जाता और मनुष्य इन गुणों को अर्जित करता जाता है।

शास्त्री जी ने 'अहं' और 'अहंकार' का भेद करना भी आवश्यक समझा है।

‘अहं’, अमर्त्य, शुद्ध-बुद्ध आत्मस्वरूप है। इसीलिए कहा गया ‘अहं ब्रह्मास्मि।’ व्यक्ति का अहंकार ब्रह्म नहीं है। प्रकृति के कारण जिसमें अहं-बुद्धि आई है, वही अहंकार है। अहंकार के शास्त्री जी ने सात कारण गिनाए हैं कुल, धन, ज्ञान, सौन्दर्य, शौर्य, दान, और तपस्या। ये सब अच्छे गुण हैं; किन्तु अहंकार इनका भी नहीं होना चाहिए। अहंकार इन सारे गुणों को नष्ट कर देता है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और है। ये गुण ऐसे महिमावान हैं कि वह व्यक्ति भगवान् को माने या न माने, किन्तु उसमें ये गुण हैं तो वह भक्त है। भक्त है, अर्थात् वह भगवन्मय है।



# आधुनिकतावादी भारतीय बौद्धिकों की बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा : दर्शन के क्षेत्र में फैला अज्ञान

**रामेश्वर मिश्र पंकज***

किसी समाज में यदि दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित लोगों में भी बौद्धिक भ्रान्ति की प्रधानता दिखे तो यह इस तथ्य का सूचक है कि उस समाज के प्रतिष्ठित वर्ग में बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा हो चुकी है और जिन लोगों में बौद्धिक तेजस है, उन्हें यह प्रतिष्ठित वर्ग योजनापूर्वक अथवा स्वभाव विवश होकर उचित महत्त्व पाने से वंचित रखता है। क्योंकि यदि किसी तेजस्वी बौद्धिक को उचित महत्त्व मिल जाए तो वह अपनी प्रखरता और प्रशान्त तेजस्विता से बौद्धिक तमस को उड़ा देगा। उससे अन्ततः सभी का कल्याण होगा। परन्तु भ्रान्त लोग भ्रांति के विलोप की सम्भाव्यता से भी भयभीत होते हैं क्योंकि बौद्धिक होने के नाते कहीं उन्हें इतनी बोध प्रतीति तो होती ही है कि भ्रान्ति का यह ताना-बाना ही उन्हें सुख-सुविधाएँ दे रहा है, इसके हटने पर अभी के पोषक समर्थ जन अपना संरक्षण हटा सकते हैं। तब पुरस्कार-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, विदेश-भ्रमण, दरस-परस, स्वाद, गंध, भोग आदि जो सुलभ है, वह दुर्लभ हो जाने का शायद भय हो। अस्तु।

यहाँ हम दर्शन के क्षेत्र के दो लेखकों का उल्लेख करेंगे। एक वृद्ध एवं अतिप्रतिष्ठित थेकुछ समय पूर्व देहान्तपूर्वक लोकान्तर या जन्मातर को प्राप्त हुए। दूसरे उत्साही युवा हैं, दार्शनिक तो हैं ही, दर्शन की एक श्रेष्ठ पत्रिका के प्रबन्ध-सम्पादन से भी जुड़े हैं और हाल ही में अखिल भारतीय दर्शन परिषद की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष में स्वातन्त्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण पर प्रकाशित तीन समृद्धखंडों के सम्पादक भी हैं। ये तीन खण्ड विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर ने छपे हैं। इस युवा सम्पादक दार्शनिक का नाम हैश्री अम्बिकादत्त शर्मा और दिवंगत वृद्ध दार्शनिक का नाम

* प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज, भारत के एक दर्शन-अध्येता; भारत भवन, भोपाल के पूर्व न्यासी सचिव; भारत सरकार के संस्कृति विभाग के पूर्व परामर्शदाता; वर्तमान में मध्यप्रदेश शासन की निराला सृजनपीठ के निदेशक हैं। *पता : सी-165, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल-462002*

हैश्री दयाकृष्ण। श्री दयाकृष्ण भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद के पदाधिकारी रहे थे, विश्वविद्यालयों में दर्शन के पाठ्यक्रमों के निर्धारण में उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव रहा था और भारत के दार्शनिक अध्यापकों की मण्डली में वे समादृत थे।

प्रारम्भ वयोवृद्ध दार्शनिक से करना उचित होगा। उक्त तीनों खण्डों में से प्रथम खण्ड का पहला ही लेख श्री दयाकृष्ण का है जिसका शीर्षक है'भारतीय सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ : बौद्धिक परम्पराओं का भविष्य।' पाठकों से पुनः मेरा निवेदन पूर्वक स्पष्टीकरण है कि इस लेख में उक्त पुस्तकों की यहाँ समीक्षा नहीं की जा रही है अपितु उनके माध्यम से दो दार्शनिकों के विचारों में व्याप्त बौद्धिक भ्रान्ति को स्पष्ट किया जा रहा है ताकि दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित वर्ग में व्याप्त भ्रान्ति का पर्याप्त संकेत हो सके। हमने उनके वे ही विचार यहाँ लिए हैं जो उन दोनों दार्शनिकों के लगभग स्थायी विचार हैं तथा जो उनके द्वारा बारम्बार अभिव्यक्ति पाते रहे हैं।

दयाकृष्ण जी निश्चय ही मेधावी दार्शनिक हैं परन्तु एक तो दर्शन के क्षेत्र में 'भारतीय सभ्यता' से उनका आशय क्या है, यह उनके समक्ष बिलकुल स्पष्ट नहीं है। 'सभ्यता' से 'दर्शन' का क्या सम्बन्ध होता है, होना भी चाहिए या नहीं, इस पर भी उन्होंने कभी स्पष्ट विचार नहीं किया। काश! वे इन मूलभूत प्रश्नों को कभी उठाते। तथापि यह लेख मननीय है, इस लेख में वे कहते हैं''अगर हम अमेरिका में या किसी भी पश्चिमी यूरोपीय देश में जन्मे होते तो हम अपनी सभ्यता के भविष्य के बारे में एकदम निश्चिंत और आश्वत होते।'' ये पंक्तियाँ कब लिखी गईं, यह इस खण्ड में दर्शाया नहीं है, पर जब भी लिखी गई हों, दार्शनिक को कुछ दूर तक और गहरे तक तो देखने में समर्थ होना ही चाहिए। अमेरिका और पश्चिमी यूरोपीय देश हमसे कहीं अधिक गहरे संशय में हैंयह सत्य शायद दयाकृष्ण जी को तब तक ज्ञात नहीं था। अमेरिका में तो खासी बहस ही छिड़ी है कि हम कौन हैं? गोरे कैथोलिक क्रिश्चियन पुरुष? या कुछ अन्य। पादरी सेमुएल पी हन्टिंगटन की 'वी' पुस्तक इस प्रश्न को ज्यादा मुखरता से उठा रही है, पर चिन्ता तो वहाँ व्यापक और गहरी है। पश्चिमी यूरोप के अत्यन्त मेधावी लोग 'प्रि-क्रिश्चियन यूरोप''पेगन यूरोप' के पुनराविष्कार के लिए विकल हैं क्योंकि 'पॉलीन क्रिश्चिएनिटी' तो वहाँ 11वीं शती ईस्वी के बाद ही प्रभावी हुई है और 18 वीं के बाद से बिखरने लगी है। 'रेनेसां' में 'प्रिक्रिश्चियन यूरोप' के ही पुनर्जन्म की छटपटाहट थी, जिसे चर्च-तन्त्र ने अपने ढंग से अनुकूलित कर लिया पर जो स्त्री-आंदोलनों, पर्यावरण आन्दोलनों, न्यू-सांइस मूवमेण्ट आदि के द्वारा एक गहरी छटपटाहट के साथ बार-बार मार्ग खोज रही है। प्रचण्ड यन्त्रणा सहते हुए। वस्तुतः आधुनिक भारतीयों में तो वैसी कोई चिंता या छटपटाहट दूर-दूर तक नजर ही नहीं आतीयहाँ तो वैसी चिन्ता का अभिनय जरूर किया जा रहा हैफैशन-वश। यह अभिनय वे ही आधुनिकतावादी लोग कर रहे हैं जिन्होंने भारतीय प्रज्ञा को दबा रखा है, दमित कर रखा है, और जो उसके नवोन्मेष की सम्भावना मात्र से घबड़ा रहे



हैं, भयभीत हैं कि कहीं ऐन्द्रिक सुख-सुविधाओं के व्यसन की रुग्ण दशा का अभ्यस्त मन वह सब घटाने को, संयम को, संयमित जीवन को विवश न कर दिया जाए। इन भारतीयों की यह चिंता ऐन्द्रिक और मनोमय है, बौद्धिक या बोधमय नहीं। दार्शनिक तो कथमपि नहीं।

इस प्रकार एक गहरी बौद्धिक शून्यता से, 'नथिंगनेस' में से, दयाकृष्ण अपना बौद्धिक संसार रचते हैं। जहाँ न सनातन सत्य की कोई स्मृति या दीप्ति या झलक है, न विश्व के बौद्धिक वर्तमान की, न ऐतिहासिक अतीत की। वस्तुशून्य विकल्प ही उनकी इस मनोमय रचना का आधार-द्रव्य है। इस लेख में आगे वे लिखते हैं''पृथ्वी का बहुत बड़ा हिस्सा पश्चिम के द्वारा पराजित और उपनिवेशीकृत हुआ, जिसके फलस्वरूप विगत कुछ ही शताब्दियों के भीतर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया और अन्य देशों के आदिवासियों का बहुलांश एकदम विलुप्त हो चुका है।'' अच्छा, परन्तु यह पूरी शब्दावली तो राजनैतिक है, दार्शनिक नहीं। एक तो यह पश्चिम क्या होता है? यूरोप के ये देश भारत के उत्तर में हैं और अधिकांशतः शून्य देशांतर रेखा के पूर्व में हैं। क्या श्री दयाकृष्ण यूरोपीय व्यक्ति है, जो वे पश्चिमी यूरोप को 'पश्चिम' कह रहे हैं? (अन्य भी बहुतरे यही करते हैंअविचारित रीति से)। फिर यह 'पराजय' क्या होती है? अचानक आप एक ही घटना को कभी पराजय कहते हैं, कभी आधुनिकीकरण कहते हैं, कभी नव-जागरण या उद्धार कहते हैं। अंग्रेजीजीवी 'आधुनिक' भारतीय बौद्धिकता ऐसे ही विभ्रम में जीती है। ये पश्चिमी यूरोप के क्रिश्चियन क्या युद्ध की घोषणा कर वहाँ उन क्षेत्रों में लड़ने गए थे जो वहाँ के लोग पराजित हुए? छल, वंचना, कायरतापूर्ण क्रूरता, घोर हिंसा, पैशाचिक बर्बरता को पश्चिमी यूरोप के क्रिश्चियनों का अमानुषिक पापाचार क्यों नहीं कह जाए? 'विजय' कैसे कहा जाए? इसलिए कि वे 150-200 वर्षों से वहाँ प्रभावी है? कहा यह जाना चाहिए कि ईसाइयों ने वहाँ बर्बरतम नृशंसता की, पापाचार किया जो मानवता के लिए लज्जास्पद दुष्कृत्य है। वे एशिया-अफ्रीका-अमेरिका के लोग पराजित नहीं किए गए। छले गए। ऐसी पापपूर्ण क्रियाएँ मनुष्यों को करते देख वे स्तब्ध रह गए। 150-200 वर्षों का यह काल उनका स्तब्धता का काल है। इनमें से कुछेक हिस्से पुनः बलशाली भी हो सकते हैं। तब वे यदि उसी प्रकार का, वैसे ही स्तर का पापाचार इन क्रिश्चियनों के साथ करें तो उसे श्री दयाकृष्ण जैसे लोग क्या कहेंगे : विजय ? प्रतिशोध? या बर्बरता? दार्शनिक को तो दूर तक देखकर पदावली स्थिर करनी चाहिए। अगर वह 'विजय' है तो फिर मुस्लिम उग्रवादी आज यूरोप अमेरिका में जो कर रहे हैं, उसे भी क्या 'विजय-अभियान' ही नहीं कहा जाएगा? 100-150 साल में पश्चिमी यूरोपीय क्रिश्चियनों ने जो कुछ किया है, उसे टिकाऊ, स्थिर, अन्तिम मानना तो काल-प्रवाह का मानो अज्ञान ही है। इतने अधीर-आतुर निर्णय और निष्कर्ष उचित नहीं। इनकी 100-200 साल की 'विजय' से यह तथ्य भूलना नहीं चाहिए कि यूरोप में ईसाइयों के बड़े-बड़े

इलाके शताब्दियों इस्लाम की अधीनता में रहे हैं। तब भी, दयाकृष्ण जी की अध्ययनशीलता इस लेख में प्रकट है। वे याद दिलाते हैं कि 'अलबरूनी भारत आया था, गणित, खगोल, औषधि-विज्ञान और अन्य व्यावहारिक उपयोगी ज्ञान विज्ञान का पता लगाने।' वे यह भी स्मरण दिलाते हैं कि सोमनाथ मंदिर को ध्वंस के बाद शीघ्र ही फिर से बना लिया गया था और उसके बाद भारत में भुवनेश्वर और खजुराहो के भव्य मन्दिर समूह रचे गए। नालन्दा का महान विश्वविद्यालय भी दो सौ बरस आगे तक फलता-फूलता रहा जब तक बख्तियार खिलजी ने वहाँ रह रहे और पढ़ा रहे समस्त आचार्यों और स्थविरों की हत्या कर विहारों को धूल में नहीं मिला दिया। इतिहास में इतने सारे बुद्धिजीवियों का इतने कम समय के भीतर इतनी तेजी और आकस्मिकता के साथ कत्लेआम शायद ही कभी हुआ होगा। 1000 ई. से 1200 ई. के बीच बड़ी संख्या में बौद्ध विचारक भारत में थे परन्तु इस कत्लेआम के बाद कोई बौद्ध विचारक प्रकट हुआ नहीं दीखता। वे उचित ही यह भी याद दिलाते हैं कि शंकराचार्य के बाद तो शताब्दियों तक भारत में बौद्ध धर्म एवं बौद्ध विचारक फलते-फूलते रहे, शंकर द्वारा बौद्ध दर्शन के उन्मूलन की बात अप्रमाणित है और उग्रवादी इस्लाम ने ही भारत से बौद्ध धर्म का उन्मूलन किया है। दार्शनिक क्षेत्र में शंकर मतवालों ने बौद्धों को परास्त मानकर जो आत्मसन्तोष पाया या परिकल्पित किया, उसे उन्मूलन नहीं कहा जाता, वह तो पारस्परिक विमर्श मात्र है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि शंकर वेदान्त को चुनौती तो आगम-प्रामाण्य के प्रतिष्ठाता यामुनाचार्य तथा शैव सम्प्रदायों द्वारा मिली। तार्किकों और नैयायिकों की भी बिहार-बंगाल में शंकर के बाद के युग में अत्यधिक प्रगति दिखती है। यह उस दौर की बात है जिसे केवल इसलिए 'मुस्लिम काल' कह दिया जाता है क्योंकि दिल्ली-आगरा के आसपास की रियासतों में मुस्लिम शासक प्रभावी थे। पर देश तो बहुत बड़ा है। अतः उसे भारत में 'मुस्लिम काल' बताना झूठ है। दयाकृष्ण जी ने उचित ही प्रश्न उठाया है कि यह किस तरह का इतिहास लेखन है जो दिल्ली-आगरा के राजवंशों तक सिमटा है और चोल राजवंश की चार सौ वर्षों की सफलताएँ जिसे दिखती ही नहीं। चोलों के बाद भी दो सौ वर्षों तक हिन्दू सभ्यता भारत के बड़े हिस्सों में राज्य-संचालन में भी प्रभावी रही। दयाकृष्ण जी बहुत सुन्दर एवं स्पष्ट ढंग से कहते हैं कि वस्तुतः 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही भारत में इस्लामी शासन की कुछ उपलब्धियाँ रही हैंकुल 250 वर्ष के करीब। वह भी सम्पूर्ण भारत में कभी नहीं। 16वीं से 18वीं शती ईस्वी का उक्त काल भी भारतवर्ष में उत्कृष्टतम काव्य-रचना, चैतन्य महाप्रभु के द्वारा कृष्ण-चेतना के नवोन्मेष, गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रामचरित की उत्कृष्टतम प्रस्तुति से उपजे सांस्कृतिक नवतारुण्य, कबीर-रैदास के नेतृत्व में पंद्रहवीं शती से ही प्रवर्तित अद्वैत ज्ञान-प्रवाह की सुगन्ध की व्याप्ति तथा छत्रपति शिवाजी महाराज और महाराज छत्रसाल के शौर्य की दीप्ति का भी काल है। यहाँ दयाकृष्ण जी की दृष्टि अकुंद है। उन मन्दबुद्धि



आधुनिकतावादी 'बुद्धिजीवियों' से दयाकृष्ण जी सर्वथा अलग हैं जो भारत में अंग्रेजों का राज 200 वर्षों का बताते हैं। उनकी जगह दयाकृष्ण जी इतना तो स्पष्ट देख पाते हैं कि अंग्रेजों के वास्तविक आधिपत्य की अवधि 1857 से 1947 तक कुल 90 वर्ष की ही है। वे स्पष्ट लिखते हैं''सारी नई टेक्नालॉजी और शक्ति के साथ समूचे देश पर अपना आधिपत्य कायम करने में अंग्रेजों को सौ साल लगे और यहाँ से जाने के लिए मजबूर किए जाने में सिर्फ 90 साल।'' यानी भारत में जमने के लिए अंग्रेज 100 साल जूझे और उन जमे हुओं को उखाड़ फेंकने के लिए भारतीय 90 वर्ष जूझे। यह तो दयाकृष्ण जी के समक्ष स्पष्ट है।

आगे दयाकृष्ण जी याद दिलाते हैं कि 1857 में अंग्रेजों ने भारत में 'अपने' (यानी प्रोटेस्टेंट ईसाइयत केलेखक) विश्वविद्यालय स्थापित किए थे, तब से वे बाढ़ की तरह फैलते रहे हैं। संयोगवश, इन पंक्तियों को जब मैं लिख रहा हूँ, तब समूचे बिहार में कोसी की बाढ़ का ताण्डव मचा है। इन विश्वविद्यालयों की कृपा से ''हमारी सभ्यता का यह सर्वग्रासी स्मृतिभ्रंश हमारे भीतर इतनी गहरी जड़ें जमा चुका है कि हममें से अधिकांश इस तथ्य से बिलकुल भी अवगत नहीं होते कि हम अपने इतिहास के हजारों वर्षों के दौरान इन सब ज्ञानात्मक अभियानों से गुजर चुके हैं।'' आगे पुनः वैसे ही सुन्दर ढंग से दयाकृष्ण जी बताते हैं कि ''तरह-तरह के कोश तैयार करते हुए हस्तलिखित ग्रंथों की खोज करते हुए, उन्हें वातानुकूलित पुस्तकालयों-अभिलेखागारों में सँजोते हुए, सम्पादित कर छापते हुए'' बहुतेरे बुद्धिजीवी शव-साधना वाली बुद्धि से प्रवृत्त हैं। मानों अतीत शव हो। इस विडम्बनापूर्ण कर्म को परम्परा का *संरक्षण* कहा जाता है परन्तु यह तो मात्र 'मेण्टेनेन्स' है। आगे वे उचित ही कहते हैं कि परम्परा का संरक्षण पुनर्नवीकरण से भिन्न नहीं हो सकता और ये दोनों वहीं साथ-साथ होंगे जहाँ परम्परा की सतत साधना का नित नूतन पुरुषार्थ चल रहा है। (*जिसे दयाकृष्ण जी आलोचना-प्रवण, गुण-ग्राही, सृजनशील आत्मचेतना के साथ भावना एवं कर्म में फलित हो रहा पुरुषार्थ कहते हैं।*) ठीक ही वे कहते हैं कि एक विपुल सभ्यता की धरोहर का हम पर यह ऋण है कि हम अपनी-अपनी योग्यता एवं अन्तर्दृष्टियों के अनुसार इस सभ्यता के योग्य पुरुषार्थ करें। वे यह भी सुझाते हैं कि पश्चिमी क्रिश्चियन सभ्यता से आक्रान्त जो अन्य तमाम सभ्यताएँ हैं, उनके पुरुषार्थों के प्रति भी हम अपने आपको खोलें और उनके प्रकाश में भी अपने पुरुषार्थों का निश्चय करें।

इस सम्पूर्ण विवरण से अनेक निष्कर्ष भी निकलते हैं और प्रश्न भी उभरते हैं। पहला प्रश्न तो यही है कि हजारों वर्षों से प्रवहमान इस प्रज्ञा-परम्परा को अतीत मात्र की वस्तु माननेवाले नमूने भारत में आए कहाँ से? और उन्हें इस दुस्साहस की शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई? पूर्वार्ध का स्पष्ट उत्तर स्वयं दयाकृष्ण जी ने दे दिया है कि कुल 90-60=150 वर्षों में यूरोक्रिश्चियन विश्वविद्यालय में उत्पादित यह बुद्धि है जो स्वाधीन भारत के औपचारिक तौर पर शिक्षित जनों में प्रकट है परन्तु प्रारम्भ के 90

वर्षों में तो यह स्थिति ऐसी दयनीय नहीं हुई थी, यह भी दयाकृष्ण जी बताते हैं। अतः यह कुल 60 वर्षों का खेल है। इसी में यह निहित है कि इसका प्रभाव वस्तुतः उतना गहरा हो नहीं सकता जैसा ऊपर-ऊपर दिखता है। जो इसी कीचड़ में धँसे दिखते हैं, उनमें से ही सर्वाधिक प्रतिभाशाली इसकी पर्याप्तता पर गहरी शंका भी करते दिखते हैंदिल्ली से चेन्नै तक और जयपुर-जोधपुर से कोलकाता-भुवनेश्वर तक सर्वत्र। अतः यह स्मृति भ्रंशता न तो सर्वग्रासी है, न इसकी जड़ें गहरी हैं। तब? तब प्रश्न के उत्तरार्ध की ओर बढ़ें। जवाहरलाल जी से मनमोहन सिंह जी तक के (अटल जी सहित) सभी प्रधानमन्त्रियों को और उनके शिक्षा-संस्कृति मन्त्रालयों को, यानी वस्तुतः भारत के प्रशासकों को यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई? क्योंकि मतदाताओं से तो उन्होंने यह कहकर कभी वोट नहीं माँगा था कि हम भारत की हजारों वर्षों से प्रवाहित प्रज्ञा-परंपरा को केवल अतीत की वस्तु बना डालेंगे। अतः उत्तर हैयह शक्ति प्राप्त हुई ब्रिटिश भारतीय प्रशासनतन्त्र को स्वाधीन भारत में यथावत् स्वीकार करने की चारित्रिक एवं बौद्धिक निर्बलता से। क्रान्तिकारी मार डाले गए या तोड़ डाले गए। सत्याग्रही शान्तिपूर्ण और संवादपूर्ण बौद्धिक युद्ध लड़ते-लड़ते बुद्धि से थक गए तथा शत्रु की बौद्धिक आभा से प्रभावित भी होते गए। पुराने राजा पहले ही मुस्लिम आक्रमणों से लड़ते-लड़ते थक गए थे। विद्या की परम्परा को अंग्रेजों ने सोख लिया। सो थकेहारे नेताओं ने पहले सोचाये फिरंगी जाएँ तो। फिर वे जाने लगे तो सोचाअभी जो बना-बनाया ढाँचा है, वही चलने दो। पर यह ढाँचा तो था इंग्लैण्ड जैसे छोटे से देश के लिए निर्मित जहाँ लोकमानस क्रिश्चियन चर्च में बलपूर्वक दीक्षित कर शताब्दियों से अनुकूलित, प्रशिक्षित एवं नियन्त्रित किया जा चुका था। इसे चलने दिया। आपने विशाल राष्ट्र में वह भी हिन्दुत्व को वैसा अधिकृत राजकीय संरक्षण दिए बिना ही, जैसा राजकीय संरक्षण इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियनिटी को प्राप्त है, जिसका अधिकृत संरक्षक ब्रिटिश ताज है। भारतीय राष्ट्रपति तो हिन्दुत्व के घोषित संरक्षक नहीं हैं। ऊपर से, मार्क्सवाद से प्रेरित प्रभावित नेहरू जी आदि ने इस ढाँचे को वह शक्ति भी दे दी जो सोवियत संघ और चीन में कम्युनिस्ट ब्यूरोक्रेसी तथा तानाशाही तन्त्र को प्राप्त थी ताकि हिन्दुत्व के विनाश/रूपान्तरण की प्रक्रिया बलपूर्वक चलाई जा सके। साथ ही, विधायिकाओं के लिए चयन वयस्क मताधिकार से करने की वह लोकतांत्रिक प्रक्रिया भी जारी रही जिसके चलते विधानसभाओं में काँग्रेस 1934 में ही आ गई थी और जहाँ के वैचारिक विचलन, भ्रष्टाचार तथा जालसाजी देखकर गाँधी जी 1934 में ही सक्रिय दलीय राजनीति से अलग हो गए थे। सो, ब्रिटिश प्रशासनिक ढाँचा उसका सोवियत तानाशाही तंत्र की तरह इस्तेमाल, सोवियत रूस एवं कम्युनिस्ट चीन द्वारा विशाल वित्तीय निवेश के साथ आक्रामक प्रचारतन्त्र द्वारा तैयार हिन्दुत्वद्रोही और भारतद्रोही बुद्धिजीवी वर्ग का एक निर्णायक हिस्साइस सबने मिलकर वह बौद्धिक शून्यता रची जिसमें यूरोक्रिश्चियन ज्ञान के



सतही अनुकरण एवं अनुशीलन को भारत के लिए एकमात्र अधिकृत ज्ञान मान लिया गया दिखता है। परन्तु यह मान लेना एक नौटंकी मात्र है। पद, प्रतिष्ठा, धन, सुविधा (जिसमें विदेश-भ्रमण की सुविधा भी शामिल है) इन्हें पाने का एकमात्र उपाय चूँकि यही रह गया, अतः यह सारी नौटंकी रची गई। इसकी जड़ें बेहद खोखली हैं। गहरी नहीं। लेकिन तब भी समस्त शिक्षित जनों की सम्पूर्ण बौद्धिक क्रियाशीलता नियोजित तो इसी में है। अन्य क्रियाशीलताओं के लिए अवकाश, अवसर, साधन तो बहुत कम हैं। यही स्थिति जारी रही तो भारत बौद्धिक दृष्टि से तो 'बनाना-रिपब्लिक' बन ही चुका दिखता है। परन्तु क्या इतनी विराट, समृद्ध ज्ञान-परम्पराओं के बीज भी नष्ट हो चुके हैं? ये जो योग और धर्म के क्षेत्र में हजारों हजार प्रतिभाएँ उमड़ रही हैं, ये भी क्या स्मृतिभ्रंशता का लक्षण है? जहाँ तक शिक्षा-तन्त्र की बात है, इसकी केन्द्रीय शक्ति तो थोड़े से अफसर और उनके सहचर प्रोफेसर आदि ही हैं। अभी इन्हें बदल सकने, रूपान्तरित कर सकनेवाला कोई राजपुरुष भारत में दिखता नहीं। परन्तु क्या वह कभी भी होगा ही नहीं। प्रोटेस्टेण्ट क्रिश्चिएनिटी के विस्तारक ब्रिटेन द्वारा भारत को अपना उपनिवेश बनाए रखने के लिए रचे गए प्रशासन तन्त्र को स्वाधीन भारत में भी जारी रखने की यह नौटंकी राजनीति ने जारी रखी है, राजनीति ही इसे तोड़ सकती है। इसकी जड़ें बौद्धिक नहीं हैं। कोई भी बौद्धिक इतना खोखला हो भी कैसे सकता है?

यहाँ आकर, बात थोड़ी स्पष्ट हो जाती है। ये सारे संकट तो एक सर्वग्रासी राज्यतन्त्र के तथा उस पर बैठे वैसी की चित्तवृत्तियों वाले लोगों के द्वारा सम्पूर्ण देश को बलपूर्वक स्मृतिभ्रंशता की दिशा में झोंक दिए जाने से उत्पन्न संकट हैं। इसका समाधान तो श्रेयस्कर राज्यतन्त्र की अभीप्सा जगाना और फिर तदनुरूप पुरुषार्थ का चरितार्थन है। इसका अभी के दार्शनिक विमर्श से सम्बन्ध क्या है? और स्वयं दार्शनिक विमर्श अभी जिन रूपों में चल रहे हैं, उनके स्वरूप का निर्धारण कौन करता है? कौन कर रहा है?

युगाब्ध 5040 (ईस्वी सन् 1938) तक भारत में जो दार्शनिक विमर्श पूरे वैभव के साथ भारत की 425 से अधिक रियासतों में चल रहे थे, वे 1947 ईस्वी आते-आते बंद क्यों हो गए? क्या ऐसा किसी दार्शनिक विमर्श से प्राप्त निगमन के उपरान्त किया गया? या नेहरू जी के प्रधानमंत्रित्व एवं मौलाना आजाद के शिक्षामंत्रित्व काल में उच्च शिक्षा सचिवों एवं अन्य अफसरों द्वारा बनाई गई विश्वविद्यालय नीति के अन्तर्गत निर्धारित पाठ्यक्रमों के द्वारा किया गया? आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से पोस्ट डाक्टोरल उपाधि पाना दार्शनिक क्षेत्र में अधिकारी विद्वान होता है और किसी महान सिद्ध पुरुष का अन्तेवासी बनकर दर्शन-चिन्तन करनेवाला दर्शन-विषय में अनधिकारी ही माना जाएगाविश्वविद्यालयों में, यह निर्णय किसने किया? और किस आधार पर? किसी भी स्थिति में उन निर्णयों के मूल में कोई दार्शनिक विमर्श नहीं था। यहाँ तक कि

योगशास्त्र के विश्वविद्यालयीन अध्यापन में स्वामी हरिहरानन्द आरण्य या स्वामी ओमानन्द सरस्वती के प्रतिपादनों को पाठ्यक्रम में किस आधार पर नहीं रखा गया? प्राध्यापक डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव ने यदि योगसिद्धि हिन्दी टीका सहित पातंजल योगदर्शन लिखा भी तो वह किसी विश्वविद्यालय के द्वारा नहीं लिखाया गया, ऐसा क्यों? वे निजी स्तर पर ही ऐसा करने को क्यों विवश हुए? वे तो विश्वविद्यालय के व्यक्ति थे। अद्वैत वेदांत के पाठ्यक्रम में भी शंकर मठ के किन्हीं आचार्यों के विचार समकालीन दार्शनिकों के नाते क्यों अधिकृत प्राथमिक स्रोत के रूप में सम्मिलित नहीं किए गए? उधर विभिन्न यूरोपीय दर्शनों के अधिकारी विद्वानों के रूप में यूरोप में चर्च के विद्यमान अथवा पूर्व पादरियों को क्यों पढ़ाया जाता है? अधिकांश आधुनिक यूरोपीय दार्शनिक भी निष्ठावान क्रिश्चियन क्यों हैं? और अधिकांश आधुनिक भारतीय दार्शनिक निष्ठावान हिन्दू होने या कहलाने में क्यों शर्माते हैं? याकि नैष्ठिक वेदान्ती अथवा नैष्ठिक योग-साधक अथवा नैष्ठिक सांख्याचार्य या निष्ठावान भक्त होने में भी क्यों कतराते हैं? इनमें से सामान्यतः किसी भी प्रश्न का उत्तर किसी दार्शनिक आधार अथवा दार्शनिक विमर्शजन्य निर्णय में नहीं है। अतः भारत में दार्शनिक चिन्तन की प्रस्थिति के रूप पर जो भी दुःख बौद्धिक जन व्यक्त कर रहे हैं, उसका आधार वस्तुतः दार्शनिक प्रस्थिति में नहीं है, राजनैतिक प्रस्थिति में है। परन्तु तीनों खंडों में इस राजनैतिक प्रस्थिति के दार्शनिक हेतुओं पर तो स्वल्प चिन्तन ही हुआ है। हमारे राजनैतिक निर्णय इतने भारत-निरपेक्ष क्यों हैं? और वे इसके बाद भी कैसे चल पा रहे हैं? उनके पीछे किसका बल है? इस पर कोई दार्शनिक विमर्श आज हमारे सम्मुख नहीं है। यह बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा का लक्षण है।

श्री दयाकृष्ण ने जीवनकाल में सैकड़ों दार्शनिक संगोष्ठियाँ भी कराईं। भाँति-भाँति के प्रश्न उठाए। परन्तु ये आधारभूत प्रश्न तो कभी भी किसी भारतीय दार्शनिक ने इन संगोष्ठियों में विगत 50-60 वर्षों में नहीं उठाए। आखिर क्यों? प्रमाद, भय, बौद्धिक स्तब्धता या बौद्धिक भ्रान्ति? क्या कारण रहे इनके?

अब हम श्री दयाकृष्ण जी की मूल चिन्ताओं को लें। श्री दयाकृष्ण बारम्बार कहते हैं कि भारत की विलुप्त विराट सभ्यता की धरोहर हमारे पास है जिसके प्रति हम ऋणी हैं और यह ऋण हमें यह कर्तव्य देता है कि हम अपनी योग्यता और अपनी अन्तर्दृष्टियों के अनुसार उस विराट सभ्यता को ही आगे बढ़ाने वाले कार्य करें। अपनी सभ्यता के अन्तर्निहित और प्रेरक पुरुषार्थ को विश्व की अन्य उन सभ्यताओं के प्रकाश में समझें जिन्हें यूरोपीय क्रिश्चियन सभ्यता ने विगत शताब्दियों में आक्रान्त कर डालाहमारी ही भाँति। परन्तु आखिर क्यों स्वयं श्री दयाकृष्ण ने जीवन भर यह कार्य कभी नहीं किया? अच्छा कोई बात नहीं। परन्तु उन्होंने स्वयं भारतीय समाज के विषय में जो दार्शनिक विमर्श किया, क्या वह उनकी उक्त प्रतिज्ञा के अनुरूप रहा? क्या कभी उन्होंने इस विराट विपुल सभ्यता के महत्त्व को सामने लाने वाला कोई कार्य



किया? कभी भी नहीं। वे तो मौके-बेमौके इस सभ्यता पर दुलत्तियाँ ही झाड़ते रहे। वह भी एक बौद्धिक नौसिखुए की ही भाँति। यह तो बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा का ही द्योतक है।

यहाँ हम उनके समाज-दार्शनिक विमर्श पर उनके समसामयिक भारत के एक शीर्ष दर्शनवेत्ता श्री यशदेव शल्य की ऐसी टिप्पणियाँ उद्धृत करेंगे जो स्वयं में श्री दयाकृष्ण की भारतीय समाज सम्बन्धी मूल मान्यताओं को स्पष्ट कर देती हैं। भारतीय समाज का जो निरूपण दयाकृष्ण जी ने किया, उस पर शल्य जी की 18 टिप्पणियाँ मैं छाँटकर पाठकों के सम्मुख रख रहा हूँ जो उक्त तीन में से तीसरे खण्ड में छपे शल्य जी के लेख में से छाँटी गई हैं। लेख का शीर्षक है'दयाकृष्ण का समाज-दार्शनिक विमर्श।' शल्य जी जैसे अति गम्भीर दार्शनिक का उस विषय पर क्या अभिमत है, पाठक स्वयं पढ़ें देखें। निवेदन है कि दयाकृष्ण जी ने समाज-दर्शन पर दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं1.सोशलफिलॉसफीः पास्ट एण्ड फ्यूचर, तथा 2. कन्सीडरेशन्स टुवर्ड्स थियरी ऑफ चेंज।

दयाजी ने प्रश्न उठाया है कि 1. क्या समाज मनुष्य के एतद्विषयक अवधारणा प्रकार से पूर्णतः स्वतन्त्र सत्य है? याकि 2. इससे गहाराई तक प्रभावित होनेवाला सत्व है? अथवा 3. वह समाज इस विचार का ही फल होता है? इस पर दया जी का उत्तर है कि ''समाज व्यक्तियों के आत्मचेतन चयनों का फल होता है,'' 'चयन का फल' होने से समाज 'प्रकृति' से विपरीत हो जाता है क्योंकि प्रकृति ऐसा सत्व है जो मनुष्य के विचार और अवधारणा के लिए प्रदत्त है, वह उनसे प्रभावित या रचित नहीं होता। समाज विचार-स्रष्ट है। अतः यह वही रूप ले लेता है, जैसा इसका अवधारण होता है। यदि दया जी अपनी इस मान्यता पर श्रद्धावान हैं, तब स्वयं वे भारतीय समाज के प्रति प्रायः निषेधात्मक, निन्दात्मक अवधारण ही क्यों करते हैं? यह प्रश्न अवश्य उठता है। क्या वे चाहते हैं कि भविष्य में भारतीय समाज वे रूप ले ले जो वे अवधारित कर रहे हैं? 'कंसीडरेशन्स' में वे कहते हैं''समाज महान कलाकृतियों के समान भी है जिनका सम्बन्ध मूल्यों और आदर्शों से होता है। जिनके बिना ये निःसत्व होती हैं। वह शिल्प के समान भी है। परन्तु समाज इन दोनों से भिन्न भी है। समाज प्रकृति के कारण-कार्य सन्दर्भ में प्रतिष्ठित, अपने सदस्यों की जीवन-रक्षा और सम्वृद्धि के प्रति चिन्तित तथा आदर्श के अनुसरण में गर्वित अग्रसर सन्ततियों की आत्मचेतन कृति होता है जो इससे प्रेम भी करती हैं और इससे भिन्न भी होती हैं।''

दयाकृष्ण जी के समाज-दर्शन का सार इस रूप में स्वयं शल्यजी ने प्रस्तुत किया है और बताया है कि दया जी समाज को शिल्पकृति और कलाकृति से इस आधार पर भिन्न कहते हैं कि वह आदि-अन्तयुक्त नहीं होता और स्वयं को भी अन्तवंत के रूप में नहीं देखता। साथ ही वे समाज को मानव-व्यक्तियों के विचारों, अवधारणाओं या चयनों का संयुक्त फल भी कहते हैं। इस विषय पर तथा दयाजी की पुस्तकों के समाज

विषयक प्रतिपादनों पर शल्यजी का अभिमत मननीय है। आगे शल्य जी की टिप्पणियाँ उद्धृत हैं :

1. दया जी द्वारा समाज का यह निरूपण अयुक्त और आत्म-असंगत है (खंड 3, पृष्ठ 183)।
2. दया जी द्वारा समाज को आत्मचेतन चयनों का फल कहना भोले भाव की पराकाष्ठा ही कही जा सकती है। 'आत्मचेतन चयन का फल' आत्म-सर्जन नहीं है और 'अवधारणाओं का फल' को 'चयन का फल' नहीं कहा जा सकता है (वही, पृष्ठ 184)।
3. समाज को आत्मचेतन कर्म की कृति कहने की अयुक्तता स्पष्ट है। (पृष्ठ 184)।
4. दया जी ने समाज को 'अप्राकृतिक' बताया है किन्तु प्रकृति के स्वरूप पर वे कहीं भी गहराई से विचार नहीं करते (वही, पृष्ठ 185)।
5. दया जी ने 'मैन' शब्द बड़े 'एम' अक्षर के साथ लिखा है, पर कहीं यह स्पष्ट नहीं किया है कि इससे उनका अर्थ क्या हैव्यक्ति, जाति, चेतना का स्तर-विशेष या कुछ और? (पृष्ठ 185)।
6. वे समाज और प्रकृति की विपरीतता पर ही बल देते हैं, यह भूल जाते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक की प्रकृति एक विशेष पूर्वग्रहमूलक प्रकृति है (पृष्ठ 187)।
7. दया जी पाश्चात्य समाज और भारतीय समाज के दो भिन्न-भिन्न अतिवादों का निरूपण करते हैं, पर वे निरूपण बहुत सतही हैं (पृष्ठ 188)।
8. सुकरात असत्य पर आधारित न्यायिक निर्णय द्वारा कारागार भेजा गया, पर भागने का अवसर पाकर भी भागा नहीं, यह दया जी के अनुसार सामाजिकता को परमता का स्थान देना था, परन्तु यह सही नहीं है, यह तो आत्मा को सर्वोपरि मानने से उत्पन्न उच्च नैतिक कर्म है (पृष्ठ 188)।
9. दया जी मानते हैं कि व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी मानने का विचार भारत में नहीं मिलता, मार्क्सवाद आदि यूरोपीय समाज-चिंतनों में ही मिलता है, परन्तु हमारे यहाँ ऋणों के रूप में यह प्रतिष्ठित मिलता है (पृष्ठ 190-191)।
10. भारतीय सभ्यता और संस्कृति को दया जी ने समाज-केंद्रक के विपरीत आत्म-केंद्रक माना है, जिसका मुख्य लक्ष्य उनके अनुसार ''अन्य के प्रति चिन्ता' का अधिकतम अवमूल्यन है परन्तु यह लक्षण या वैशिष्ट्य ऐसा ही है जैसा मनुष्य को उसकी 'हँसने की योग्यता' से परिभाषित करना (पृष्ठ 191)।
11. दया जी अवतार और बोधिसत्व की अवधारणाओं को अपवाद कहते हैं



जबकि वास्तव में ये अवधारणाएँ काव्य, पुराण और सामान्य जन-जीवन की प्राण हैं। साथ ही, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र इसी जीवन्त ब्राह्मण-मानस की उपज हैं (पृष्ठ 191)।
12. दया जी का निष्कर्ष है कि ''भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं होकर, अतिनैतिक है'', परन्तु हम इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। भारतीय संस्कृति में नीति की अवहेलना नहीं होकर, उससे उच्चतर भूमि पर आरोहण की दृष्टि है। नीति की परिभाषा 'परहित चिन्ता' नहीं की जा सकती, यह परिभाषा 'आत्मसिद्धि' करना अधिक उपयुक्त है (पृष्ठ 192)।
13. कांट के नीति विषयक सभी सूत्र संस्कृत के नीति विषयक सुभाषित-संग्रहों में मिल जाएँगे (अतः ''भारतीय संस्कृति को नैतिक नहीं बताना गलत है'') (पृष्ठ 192)।
14. भारत के दार्शनिक नीति को केवल स्मृतिकारों का विषय मानते थे। वे नैतिक आचरण को सामाजिक परम्परा द्वारा निर्धार्य मानते थे और नीति का तत्त्व आत्म-साधना में मानते थे। जहाँ तक दार्शनिकों द्वारा नैतिक चिन्तन का प्रश्न है, अनुभववाद ने नैतिक बोध को निराधार अथवा 'अविचार्य' माना है और मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद, फिनॉमिनालाजी आदि में नैतिक बोध के प्रति असहानुभूति की कोई कमी नहीं है(पृष्ठ 193)।
15. दया जी का तीसरा व्याख्यान कर्म पर है, कर्म-विषयक हिन्दू दृष्टि पर। किन्तु उस दृष्टि का भी यह नितांत अपर्याप्त और कुछ स्थलों पर अयुक्त, निरूपण है (पृष्ठ 193)।
16. गीता में 'निष्कामता' का अर्थ 'निष्प्रयोजन' है, ऐसा दयाजी ने पता नहीं किस आधार पर समझा है। इसका अर्थ केवल प्रयोजन सिद्धि के प्रति निरुद्विग्नता है। एक साधारण स्तर पर 'स्पोर्ट्‌समैन्स् स्पिरिट' में भी यह स्पष्ट है। अन्यथा कोई कर्म निरुद्देश्य किया ही कैसे जा सकता है। हम उठकर चलेंगे भी तो या तो कहीं पहुँचने के लिए चलेंगे या फिर भ्रमण के लिए चलेंगे, जब तक इतने विक्षिप्त नहीं हों कि बस यों ही उठकर चल दें। इस यों ही चलने को तब 'कर्म' नहीं कहा जाएगा। निष्कामता का ही दूसरा नाम भगवत्समर्पण भाव हैकर्म को ईश्वर का आदेश मानकर करना और परिणाम को प्रयत्न के विरुद्ध पाकर उद्विग्न नहीं होना। इस प्रकार 'ईश्वरार्थता' 'निष्कामता' की व्याख्या मात्र है (पृष्ठ 194-195)।
17. गीता में कृष्ण द्वारा अर्जुन के शोक को अशोचनीय के लिए शोक कहे जाने पर दया जी ने तीखी आलोचना की है, उस पर शल्य जी लिखते हैं ''अर्जुन का विषाद बन्धु-बान्धवों के तथा समाज के दुःख के प्रति उपजी परदुःखकातरता थी, दया जी का यह तर्क सही है, परन्तु परदुःखकातर होना

और उससे प्रेरित होकर कुछ करना मानवीय है। अकातर भाव से अपने को निमित्त मानकर करना अतिमानवीय।''

अतः कर्म-फल को वैश्व-व्यवस्था या प्रभु की लीला मानकर दुःखी लोगों के दुःख निवारण के लिए निरुद्विग्न भाव से अग्रसर होना उच्चतर नैतिकता है, बनिस्बत परदुःखकातर भाव से कर्म-प्रवृत्ति के (पृष्ठ 195-196)।

18. दया जी के चौथे व्याख्यान का शीर्षक है'स्वातंत्र्य के परिप्रेक्ष्य'। स्वातन्त्र्य का स्वरूप वे अन्य के पराभव में देखते हैं। उनके अनुसार वेदान्तीय स्वातन्त्र्य अन्य के निषेध में है और फाउस्तीय (पाश्चात्य) स्वातन्त्र्य अन्य के नाशन में है। इनका औचित्य दया जी ने नहीं बताया। स्वातन्त्र्य की इस अवधारणा के अनुसार समाज की विद्यमानता स्वातन्त्र्य में बाधा की विद्यमानता होगी।...यदि पश्चिम का इतिहास ''एक पक्ष द्वारा दूसरे को निरन्तर पराभूत करने के प्रयत्न का इतिहास है, तब भारत का इतिहास संघर्ष से बचने के प्रयत्न का इतिहास होगा। किन्तु ऐसा है नहीं।'' (पृष्ठ 197)।

''दया जी के अनुसार भारतीय इतिहास में युद्ध ''चाहे कितने भी उग्र और सुदीर्घ रहे हों, पर ये कभी सिद्धान्तों के आधार पर नहीं लड़े गए, जैसे पश्चिम में।'' किन्तु इसके लिए प्रमाण?...भारत में रामायण और महाभारत के युद्ध आदर्शों और मूल्यों के लिए लड़े गए थे। रामायण का युद्ध सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए मर्यादा-ध्वंसकों के विरुद्ध लड़ा गया था, महाभारत का युद्ध न्यायसंगत अधिकारों की रक्षा के लिए। निकटवर्ती इतिहास में गुरु गोविन्दसिंह, शिवाजी और महाराणा प्रताप शुद्ध रूप से विचार और आदर्श के लिए युद्ध लड़े।'' (पृष्ठ 197-198)।

दया जी के भारतीय समाज सम्बन्धी विवेचन पर उनके समसामयिक दार्शनिक तथा मित्र श्री यशदेव शल्य की ये 18 टिप्पणियाँ स्वतः स्पष्ट हैं। मुख्य बात यह है कि यदि दयाकृष्ण के अनुसार, ''समाज विचार-स्रष्ट है, प्रकृत नहीं, यह वही रूप ले लेता है, जैसा उसका अवधारण किया जाए,'' तो फिर दयाकृष्ण जी जो भारतीय समाज का इस रूप में अवधारण कर रहे हैं कि

1. भारत में व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी मानने का विचार नहीं मिलता।
2. भारतीय सभ्यता आत्म-केन्द्रक है और वह अन्यों की चिन्ता करना व्यक्ति को नहीं सिखाती।
3. भारतीय संस्कृति नैतिक नहीं है।
4. गीता निष्प्रयोजन जीवन की प्रेरणा देती है।
5. भारत का इतिहास सिद्धान्त विहीन युद्धों का इतिहास है।
6. भारत में कभी भी सिद्धान्तों के आधार पर युद्ध नहीं लड़े गए।



7. भारतीय सभ्यता लोगों को कभी पर हित की, परोपकार की चिन्ता करना नहीं सिखाती। साथ ही, गीता कर्म-फल की चिन्ता करने से रोकती है। इस प्रकार भारतीय व्यक्ति आत्मकेन्द्रित एवं प्रयोजन-विहीन जीवन का संदेश ही अपनी सभ्यता से पाते हैं।

तो ये अवधारण भी क्या भारतीय समाज को एक विशेष रूप लेने को प्रेरित करने के लिए ही दया जी अवधारित और प्रस्तुत कर रहे हैं? यदि दयाजी इस विषय में स्पष्ट हैं कि अपने अवधारणों द्वारा वे भारतीय समाज को स्वकेन्द्रित, प्रयोजनशून्य, गैरजिम्मेदार, नैतिकता-निरपेक्ष, जीवन-संघर्ष से बचने की जुगत में जुटे व्यक्तियों का समूह बनाना चाह रहे हैं, तब कुछ नहीं कहना। पर यदि वे इस विषय में स्पष्ट नहीं हैं, तब उनकी बौद्धिक भ्रान्ति स्वतः स्पष्ट है। वे ऐसा अवधारण कर रहे हैं जो समाज को इस प्रकार बनने की प्रेरणा देगा, यह उन्हें स्वयं स्पष्ट नहीं तब क्या कहें? क्या इसी सभ्यता का संरक्षण करते हुए और इसी सभ्यता के योग्य, अपनी क्षमतानुरूप पुरुषार्थ करने को सबका कर्तव्य श्री दयाकृष्ण मानते हैं?

यह तो हुई इन वृद्ध दार्शनिक (अब स्वर्गीय) श्री दयाकृष्ण की स्थिति। अब युवा दार्शनिक श्री अम्बिकादत्त शर्मा के कथनों को देखें।

अम्बिकादत्त कह रहे हैं कि स्वतन्त्र भारत में, यानी 1947 के बाद अवशिष्ट भारत में, एकात्मक राजनीतिक अस्मिता है। अम्बिकादत्त वस्तुतः वही कह रहे हैं जो यूरोइण्डियन बुद्धि वाले बहुतेरे लोग कहते हैं। परन्तु इसका प्रमाण क्या है? यहाँ ऐसे सभी लोगों का निश्चय ही विविध राजनैतिक दलों से आशय नहीं है। अतः उन सबका आशय एक शासनतन्त्र से होगा जो एक सुदृढ़ सैन्यतन्त्र से रक्षित एवं पोषित है। परन्तु यह शासनतन्त्र एक तो भारत को राज्यों का संघ मानता है, राष्ट्र नहीं। राज्य (स्टेट) से इतर राष्ट्र की कोई भी अवधारणा इस शासनतन्त्र एवं संविधान में नहीं है। वहाँ राज्य है, राज्य के विविध अंग हैं एवं नागरिक व्यक्ति हैं तथा नागरिकों के विविध संघ भी अनुमति प्राप्त हैं। इन घटकों की ही परिभाषा संविधान में है। तो इसे एकात्मराजनैतिक अस्मिता किस आधार पर कहेंगे? वस्तुतः संविधान तो 'इंडिया दैट इज भारत' को एक सम्प्रभु सार्वभौम (और अब सेकुलर सोशलिस्ट भी) गणतन्त्र अवश्य घोषित करता है परन्तु इस गणतन्त्र का जो विवरण वहाँ है, जो परिभाषाएँ दी गई हैं, वे केवल राज्य एवं व्यक्ति को ही आधारभूत प्रत्यय मानकर की गई हैं। फिर वहाँ यह भी स्पष्ट परिभाषित नहीं है कि राज्य, राज्यतन्त्र (गवर्नमेण्ट) से अभिन्न है या भिन्न। क्या भारतीय राज्य भारत के सभी नागरिकों की राजनैतिक शक्ति का प्रतिनिधि है? या वह मात्र शासनतन्त्र का पर्याय है? यों लिखा तो यह है कि, ''हम भारत के लोग इसे आत्मार्पित करते हैं।'' पर वहाँ भारत के लोगों को संस्कृति-सम्पन्न, धर्म-चेतना सम्पन्न, बुद्धि-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न मानव नहीं समझा गया है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसे संविधान की रचना में भारतीय ज्ञान-परम्पराओं, संस्कृति-परम्पराओं

और स्मृति-परम्पराओं के सन्दर्भ ही प्रधान होते। वहाँ तो भारत के लोगों को मतदान नामक एक विशेष राजनैतिक क्रिया या कर्म कर रहे व्यक्ति मात्र माना गया है, जिन्होंने काँग्रेस आदि को वोट दिया है और वोट प्राप्त नेताओं ने एक संविधान सभा बनाई है, जो संविधान को तैयार और पारित कर रही है। संविधान सभा के किसी भी सदस्य ने भारतीय समाज से या मतदाताओं से यह सत्य नहीं बोला था कि हम भारत की धर्म-परम्पराओं एवं शास्त्र-परम्पराओं को शासन का कोई भी सन्दर्भ नहीं बनाएँगे, केवल 'एंग्लो-सेक्सन लॉ' को ही शासन का सन्दर्भ बनाएँगे। ऐसा करने के लिए उन्होंने मतदाताओं की स्वीकृति या अनुमति भी नहीं ली थी। इस प्रकार विराट ज्ञानराशि की भव्य परम्पराओं की वाहक बुद्धि के प्रतिनिधि भारतीयों को इस राजनीतिक बुद्धि ने कुछ गुना ही नहीं था। वे तो अंग्रेजों को भगाने के श्रेष्ठ पुरुषार्थ को स्वयं में पर्याप्त, इतना बड़ा एवं व्यापक पुरुषार्थ मान रहे थे और इतनी बड़ी वीरता मान रहे थे कि उसके बाद उन्हें भारत के करोड़ों लोगों के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पुरुषार्थ को, हजारों सालों की वीरता की परम्पराओं को, जिसमें से ही उनकी यह वीरता भी जन्मी थी, तथा उनकी भावभरी आत्मीयता को, नगण्य मानने का मानो स्वयंसिद्ध अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह संविधान किसी भी अर्थ में एकात्मक राजनैतिक अस्मिता की रचना नहीं है और यह राजतन्त्र किसी भी अर्थ में एकात्मक राजनैतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति नहीं है। इसके अधिक प्रकट उदाहरण लेंभारत के जनगण मतदाता के रूप में केवल विधायिकाओं के लिए प्रतिनिधि चुनते हैं, परन्तु संविधान के आधारों के बारे में कभी कोई जनमत नहीं लिया गया है। संविधान रचना के समय भारत के जनगण को, विराट हिन्दू समाज को, यह कभी भी बताया नहीं गया था और इस विषय पर जनमत या जनादेश नहीं लिया गया था कि स्वतन्त्र भारत समस्त हिन्दू शास्त्रों, संस्कृति एवं परम्पराओं को तज देगा। एक यूरोप-भारतीय समूह ने स्वयं का मत ही सभी भारतीयों के लिए निर्णायक और कल्याणकारी मान लिया है। कार्यपालिका और न्यायपालिका के सैद्धान्तिक आधारों और व्यवहार रूपों तथा न्याय की मान्यताओं एवं परम्पराओं के निर्धारण के लिए भी मतदाता की कोई भूमिका नहीं है। शिक्षा-संस्कृति का सम्पूर्ण तन्त्र व्यवहारतः कार्यपालिका ने ही रचा है, रचती है और निर्धारित करती है। इसमें भारतीय मतदाता की कोई भूमिका नहीं है। इन अंगों के लिए प्रतिनिधियों के चयन का आधार कतिपय एंग्लो-सेक्सन विधियाँ एवं ज्ञान-परम्पराएँ हैं, भारतीय ज्ञानपरम्परा नहीं। इसीलिए भारत के विद्या-प्रतिष्ठानों में चल रहा एवं प्रतिष्ठित-दार्शनिक विमर्श भी राज्यतन्त्र के निर्णयों एवं रचनाओं का फल है, भारतीय ज्ञान-परम्पराओं के भीतर से निकला परिणाम वह नहीं है। इन यूरो-भारतीय बुद्धि के प्रतिनिधियों के द्वारा सृजित बौद्धिक परिवेश की न्यूनता या दारिद्र्य को भारतीयों की बुद्धि की न्यूनता या द्रारिद्र्य बताना इसीलिए समुचित नहीं है। वस्तुतः हमारे ब्यूरोक्रेट्स ने भी कभी ऐसा कोई सर्वसम्मत



निर्णय नहीं लिया कि हम भारतीय विधि-परम्परा को तजकर केवल एंग्लो-सेक्सन लॉ को मानेंगे।

अतः भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता कथमपि सभ्यता और संस्कृति विषयक भारतीय दृष्टिकोण की स्वाधीनता की परिचायक नहीं रह पाई है अपितु वह यूरो-भारतीय दृष्टिकोण के बर्बर एकाधिपत्य का एक अवसर बन गई है। सत्तारूढ़ राजनीतिज्ञों ने किसी दुरभिसंधि के कारण यह किया या फिर प्रमादवश होने दिया, यह पृथक विषय है। नौकरशाहों ने भी यह सब अविचारित ही चलने दिया अभ्यासवश। सजग होकर वे ऐसे भारत-निरपेक्ष नहीं हो सकते थे।

अपने उक्त लेख में शर्मा ने जो कहा है, उसका सार यह है कि ''भारत के अधिकांश मुसलमानों ने मजहब के आधार पर बलपूर्वक अपना एक अलग राष्ट्र माँगा, लड़े और पाया। शेष भारत में फिर भी मुसलमानों का समान अधिकार ही मान्य रहा तो यह भारत की सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल ही है,'' ऐसा उनका मानना है। यहाँ सम्पादक ने अपने कथन के पक्ष में कोई भी प्रमाण-संकेत नहीं दिया है। क्या आततायियों के समक्ष झुकना भारत की सांस्कृतिक प्रकृति के अनुरूप है? आखिर कितने हिन्दुओं की हत्या करते उग्रवादी मुसलमान? उतने हिन्दुओं की हत्या क्या विभाजन के दौरान वैसे भी नहीं हो गई? क्या उस भीषण हिंसा को कारित एवं अनुमोदित करने का दोष गाँधी जी सहित समस्त नेतृत्व पर नहीं है? उस नृशंस हत्या का प्रतिकार राजधर्म नहीं है क्या? नहीं था क्या? स्पष्टतः *भारत के भाग रह चुके हिस्सों से हिन्दुत्व को देश निकाला दे दिया गया। अतः न्याय यह था कि शेष भारत में उसकी क्षतिपूर्ति की जाती। फिर जो निर्णय केवल कायरता, भय एवं सत्ता लोभ से उपजा था, उसे सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल निर्णय कहना या मानना सम्यक् नहीं है। पूर्णतः बौद्धिक भ्रान्ति है यह।* यहाँ बात केवल दार्शनिक तर्क की है। *गहरी लज्जा के विषय को गर्व का विषय बताना आश्चर्यजनक है।* प्रायः सभी युरो-भारतीय बौद्धिक ऐसे ही आश्चर्यप्रद जीव हैं। इसी प्रकार 'अनेक मतावलम्बी केवल 'हिन्दुत्व संस्कृति' में समान रूप से समादृत और भागीदार होते हैं', इस कथन का आधार क्या है? ईसाइयत से पूर्व की सभी यूरोपीय संस्कृतियों में 1000 ई. के लगभग तक यही स्थिति थी। इस्लाम के पहले के अरब, ईरान, इराक, अफगानिस्तान में यही स्थिति थी। पाकिस्तान और बांग्लादेश में भी हाल तक 1947 तक तो, यही स्थिति थी, पर चलिए तब उसे तथा अफगानिस्तान को हिन्दुत्व का क्षेत्र कहेंगे परन्तु रेनेसाँ के बाद से अनेक प्रबुद्ध क्रिश्चियन देशों में भी सिद्धान्ततः सेकुलर मामलों में समान भागीदारी मान्य है। उसका ही लाभ उठाकर तो उग्रवादी मुसलमान आतंकी हमले कर पा रहे हैं। मय संस्कृति, इंका संस्कृति, एजटेक संस्कृति, घना संस्कृति आदि शताधिक संस्कृतियों में विश्व भर में यही स्थिति रही है। बौद्ध संस्कृति के वाहक देशों में भी यही स्थिति है। पर कोई देश वहाँ के मुसलमानों के लिए अपने भीतर से एक अलग राष्ट्र देकर

फिर शेष हिस्से में उनके समान अधिकार मान्य नहीं करने वाला। क्योंकि यह दर्शन या सांस्कृतिक बोध एवं मान्यता भर का प्रश्न नहीं है। यह तो आततायी प्रवृत्तियों के प्रति भाव, व्यवहार और दृष्टि का विषय है। व्यवहार में आततायियों के प्रति उदारता वस्तुतः श्रेष्ठ जनों के प्रति क्रूरता होती है। किसी भी शासन को तो ऐसी उदारता यानी श्रेष्ठजनों के प्रति क्रूरता का अधिकार ही नहीं है। इस क्रूरता का अनुमोदन गाँधी जी ने भी किया तो उससे वह सही नहीं हो जाती। गाँधी जी स्वयं एक श्रेष्ठ जन थे। पर उन्हें अन्य श्रेष्ठ जनों के प्रति क्रूर-कठोर होने का कोई भी अधिकार नहीं था।

पंथ-निरपेक्षता तो भारत का सनातन स्वभाव है। ऐसे सनातन पंथ-निरपेक्ष भारत में किसी भी समूह को अल्पसंख्यक किस आधार पर माना जा सकता है? फिर अल्पसंख्यक कह कर कतिपय समूहों को विशेष सांस्कृतिक अधिकार एवं विशेष सांस्कृतिक अवसर देना गलत तो है ही, उस बृहद् समाज के साथ घोर अन्याय है जिससे कर-ग्रहण पूर्वक बने राजकोष से ये विशेष अनुदान दिए एवं अनुग्रह किए जाते हैं।

यदि पाप-प्रवृत्तियों पर अंकुश ही नहीं लगाना है तो भारतीय दण्ड संहिता आदि तत्काल समाप्त कर देनी चाहिए और करुणा के उपदेश मात्र पर अडिग श्रद्धा रखकर दण्ड के समस्त विधान विसर्जित कर देने चाहिए। उत्तम तो यह है कि भारत के शीर्ष राजपुरुष आत्मरक्षा के लिए तैनात सिपाहियों और सैनिकों को तत्काल हटाकर इसका शुभारम्भ करें। राज्यारूढ़ एवं राज्यस्पर्धी व्यक्तियों के लिए तो सम्भावित आततायियों के दण्ड की ऐसी व्यवस्था और राष्ट्र के प्रति स्पष्ट आततायी भाव रखने वालों के प्रति उदासीनता, यह राजधर्म के विलोप का प्रमाण है।

जहाँ तक 'वैजात्य' या पाश्चात्य या विदेशी प्रहारों के पद-प्रयोग की बात है, अद्वैत की दार्शनिक दृष्टि से कोई भी विजातीय नहीं है। उसे आततायी एवं आसुरी भाव से भरा पापपूर्ण प्रहार कहना ही सम्यक है। विजातीय या सजातीय होने का सन्दर्भ वहाँ अप्रासंगिक है। भारत ने 'वैजात्य या विदेशी प्रहारों' को कभी मूक होकर नहीं सहा, निरंतर उसका वीरतापूर्ण उत्तर दिया, प्रतिकार किया। हम सहकर नहीं बचे हैं, दुष्टताओं का संहार करके बचे हैं। भारतीय वीरता अनुपम है, अद्वितीय है, स्तुत्य है। हमारे सभी देवी-देवता शस्त्रधारी हैं। सहेंगे तो समाप्त हो जाएँगे। 1947 से सह रहे हैं तो सिकुड़ते जा रहे हैं, दबते जा रहे हैं। कब तक?

हम सबको आत्मवत् देखते हैं अतः यदि अपने भीतर की पाप-प्रवृत्तियों का संहार कर्त्तव्य है तो बाहर की हमारी पाप-पुण्य की कसौटियाँ भी सार्वभौम हैं, साम्प्रदायिक या एकदैशिक नहीं। भिन्न पन्थ वालों का विनाश हिंसा है, पापाचार है तो विश्व में सभी के लिए वह वैसा ही है। इस्लाम या ईसाइयत या कम्युनिज्म या किसी भी नाम से वैसा करने को पुण्य नहीं माना जा सकता। जबकि आज भारत का शिक्षित आधुनिक हिन्दू इन तीनों प्रकार की हिंसा का समर्थक है, उसे वैधता देता है



और इस वैधता के कारण-मीमांसा करते हुए गरीबी, अल्पसंख्यकों की असुरक्षा भावना आदि के तर्क गढ़ता है। इन तीनों के द्वारा अन्यों के विनाश की सार्वजनिक घोषणा को उनका नागरिक अधिकार बताया जाता है, हिंसा नहीं। जबकि योगसूत्र का स्पष्ट प्रतिपादन है"सर्वदा सर्वथा सर्वभूतेषु अनभिद्रोहः अहिंसा।" और इस प्रकार भिन्न पंथी मनुष्यों के प्रति अद्रोह का न होना और विद्वेष का होना स्पष्ट हिंसा है। इस्लाम, ईसाइयत या कम्युनिज्म के प्रति विद्वेष शून्य रहना तो आवश्यक एवं उचित है। परन्तु उन तीनों को या किसी भी अन्य पंथ को शेष मनुष्यों एवं प्राणियों के प्रति द्रोह भाव की छूट देना हिंसा की अनुमति देने का पाप है। यह स्वयं में हिंसा ही है। जहाँ तक भारतीयों के विशेष सांस्कृतिक प्राणी होने और पूर्वजों की स्मृतियों को दुहराने की बात है, पूर्वज रूप में स्मृतियों के स्तर पर उन्हें, जीवन्त रखने का कार्य तो हिन्दू, क्रिश्चियन, मुसलमान सभी करते हैं। जीजस, पैगम्बर मुहम्मद आदि भी सम्बन्धित पंथानुयायियों के पूर्वज ही तो हैं, वे एक सीमा तक तो उन पूर्वजों की स्मृतियों से ही प्रेरित संस्कृतियाँ हैं। उनमें प्राचीनतम अतीत की स्मृति वहाँ वर्जित है पर आधुनिक शिक्षित भारतीयों ने तो निकट अतीत की स्मृति भी खो दी है अन्यथा वह दार्शनिक दारिद्र्य ही क्यों होता, जिससे सभी दुःखी हैं। अतः वृथा भारताभिमान का कोई आधार यह नहीं बनता। वृथा भारत निन्दा और वृथा भारताभिमान दोनों अनुचित हैं। वस्तुतः हमारे प्रतिभाशाली युवा बौद्धिक यूरंडपंथी शिक्षा के प्रभाव में देख नहीं पा रहे कि वे उग्रवादी इस्लामी साम्प्रदायिकता तथा सत्तारूढ़ यूरो-भारतीय साम्प्रदायिकता के पक्ष में अकारण ही भक्ति-भाव दर्शाकर राजनैतिक क्लैव्य एवं कायरता को दार्शनिक या बौद्धिक शब्दजाल से ढँकने का दयनीय प्रयास कर रहे हैं।

विभाजन को स्वीकार करना स्वयं गाँधीजी की भी एक बड़ी कमजोरी और आत्म-विरोध है। पर उनके पास शाश्वत बड़प्पन की अनेक चीजें हैं।

जहाँ तक मजहबी राष्ट्र के रूप में पाकिस्तान की (और फिर बांग्लादेश की) स्थापना का प्रश्न हैवह किसी साम्प्रदायिक दुराग्रह रूपी दार्शनिक कुविचार या मतिभ्रम का फल नहीं है। अपितु एक पापपूर्ण राजनैतिक इच्छा से भपूर आसुरी शक्ति की प्रचण्डता का फल है। शेष भारत के साथ किया गया वह इतना स्पष्ट अन्याय है कि दार्शनिक या बौद्धिक बड़बोलेपन से अथवा झूठी भावुकता से उस अन्याय को कातर भाव से सहने का क्लैव्य गरिमामण्डित नहीं किया जा सकता। जो कुतर्क आज इस कायरता को ढँक रहा है, वही कल फिर हिन्दुओं से कहेगा कि मुसलमान अपने घरों में गीता या भागवत या रामायण या त्रिपिष्टक या साखी या आदिग्रन्थ रखेंन रखें, हिन्दू तो कुरान को अपनी गीता-रामायण के साथ नित्य रखना और पूजना शुरू ही कर दें क्योंकि ऐसा करना ही हमारी सांस्कृतिक प्रकृति के अनुकूल होगा। 'आत्मघात में कातरता पूर्वक अद्वितीय' बनने की होड़ को गौरवास्पद मानना शोचनीय है। भले ही इसे आत्मबलिदान की भ्रामक संज्ञा दी जाए।

भारतीय संस्कृति एक अवयवी है तो भारतीय मुस्लिम उसके सहज अवयव हैं। इस आधार पर वे इस्लामी उपासना-पद्धति यानी अल्लाह की इबादत के सहज अधिकारी हैं। पर भारतीय संस्कृति के बहुलांश को हिन्दू संस्कृति कह कर उसे 'जाहिलिया' या 'कुफ्र' कहने के अधिकारी वे नहीं हैं। इसे 'कुफ्र' बताकर इसके विरुद्ध 'जेहाद' के अधिकारी भी वे नहीं हैं। अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों के नाम पर 'कुफ्र' या 'जेहाद' के इन अर्थों की शिक्षा की छूट देना अवयवी भारत को खण्डित करना और उसके अवयव विशेष को विषाक्त होने देना या रहने देना है। किसी अंश की स्वायत्तता का अर्थ उसको विषाक्त होने की छूट देना या उसके प्रति उदासीन रहना अथवा उसका विष दूर करने के लिए दत्तचित्त नहीं होना, नहीं है। फिर अम्बिकादत्त जी तथा शल्य जी आदि अनेक तटस्थ बौद्धिकों को बिना किसी जानकारी के यह कहने का क्या आधार है कि रा. स्व. संघ या विहिप आदि मात्र राणा प्रताप और शिवाजी को आदर्श मानते हैं, राम, कृष्ण, बुद्ध, वाल्मीकि, व्यास, वशिष्ठ, कालिदास अथवा कपिल, कणाद, गौतम, याज्ञवल्क्य, विश्वामित्र, भृगु, च्यवन, भारद्वाज, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बसवाचार्य, कबीर, तुलसी, रविदास, गाँधी आदि को नहीं? वे नित्य जिस प्रातः स्मरणं का पाठ करते हैं, उसकी आपको जानकारी नहीं है तो यह अज्ञान आपका है, उनका नहीं। हो सकता है, आपकी भेंट किसी कम जानकार साधारण स्वयंसेवक से हुई हो तो उसे ही आप रा. स्व. संघ का शीर्ष प्रतिनिधि मान बैठें? या मान लेंगे? और ईसाइयत का प्रतिनिधि उनके शीर्ष दार्शनिकों को तथा कम्युनिज्म का प्रतिनिधि शीर्षस्थ कम्युनिस्ट चिन्तकों को मानें? राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वारा प्रकाशित किस पुस्तक में वह लिखा है जो सेक्युलरिस्टों द्वारा संघ का विचार बताया जाता है? या संघ और विहिप का कौन-सा बड़ा मुखिया वह सब विचार रखता है जिसे वे उनका विचार बताते रहे हैं? अन्य विचारधाराओं की सर्वोत्तम एवं शीर्ष विभूतियों को ध्यान में रखकर उनका विश्लेषण करना तथा हिन्दुत्वनिष्ठ संगठनों के किसी अति सामान्य ओर अल्पज्ञ परन्तु उत्साही समूह को ध्यान में रखकर इन संगठनों एवं प्रवाहों का विश्लेषण करना दार्शनिक जनोचित नहीं है। किस हिन्दूवादी चेतना की जन्मस्थली राजनीतिक इस्लाम है? इस तर्क के पक्ष में क्या प्रमाण हैं?

रा. स्व. संघ से कई गुना तेजस्वी हिन्दुत्व की आज आवश्यकता है परन्तु जिन्हें संघ ही नहीं पच रहा, वे तेजस्वी हिन्दुत्व को तो खा ही डालना चाहेंगे। या शायद जब कभी वैसा हिन्दुत्व आएगा तो ये डर कर उसकी भी वैसी ही चाटुकारिता करेगें जैसी अभी इस्लाम, कम्युनिज्म और ख्रीस्तपंथ की करते हैं। मेरा एक प्रश्न है, सेक्युलरवादियों से। यदि आप वर्तमान अवशिष्ट भारत की सांस्कृतिक चेतना में राजनैतिक एवं मजहबी इस्लाम के लिए समान अवसर के पक्षधर हैं, तो फिर इस्लाम से प्रेरित हिन्दुत्व (जो अभी कहीं नहीं है पर हो जाए तो संतुलन के लिए उत्तम होगा) को भी यथोचित स्थान मिलने के पक्षधर आप क्यों नहीं हैं? सांस्कृतिक चेतना के महासागर की अनेक



तरंगों में एक तरंग वह भी सही। जब आप ईसाइयत और कम्युनिज्म से प्रेरित सेकुलरिस्ट भारतीयों के प्रबल पक्षधर हैं तो इस्लाम से प्रेरित प्रचण्ड हिन्दुओं के सैद्धांतिक पक्षधर होने में आपको परेशानी क्या है? और आपको ऐसी परेशानी का क्या अधिकार है? क्या हिन्दुओं में राजनैतिक इस्लाम से प्रेरणा लेकर एक प्रबल हिन्दुत्वनिष्ठ संगठन खड़ा नहीं हो सकता? यद्यपि अभी तो इसके दूर-दूर तक लक्षण नहीं दिखते। अभी तो सम्पन्न और शिक्षित हिन्दुओं का बड़ा वर्ग क्रिश्चिएनिटी से प्रेरित है और उसे इसका दम्भ भी है। अम्बिकादत्त जी को विदित हो कि गाँधी जी ने बल देकर कहा था कि, ''प्रत्येक धर्म विश्व में अपनी राजनैतिक सत्ता बनाकर ही टिक पाता है और टिक सकता है।'' इसका आशय क्या है?

वस्तुतः संस्कारी एवं सदाशयी हिन्दू बौद्धिकों में भी यूरंडपंथी शिक्षा एवं संचार-माध्यमों के घटाटोप के कारण एक गहरी आत्मग्लानि, आत्मनिन्दा और आत्मधिक्कार की वृत्ति बलवती है। इसके मूल में है वह दयनीय बौद्धिक भ्रान्ति जो भारतीय आधुनिक बौद्धिक परिवेश में व्यापक है। भारत के अधिकांश आधुनिक बौद्धिक किसी भी विषय के मूल स्रोतों को नहीं पढ़ते, न भारतीय या हिन्दू शास्त्रों को वे पढ़ते, न कुरान-हदीस को, न ओल्ड तथा न्यू टेस्टामेण्ट और चर्चतन्त्र के इतिहास को, न कम्युनिज्म के मूल स्रोतों को। इसी प्रकार, न तो उन्हें यूरोप के उन देशों-समाजों का इतिहास ज्ञात है, जिसके वे भक्त हैं, न भारत का इतिहास ज्ञात है, न इस्लाम और ईसाइयत का। इस विराट विश्व में कैसी-कैसी श्रेष्ठ समुन्नत सभ्यताएँ हुई हैं? आस्थावान क्रिश्चिएनिटी और उग्रवादी इस्लाम ने उन सभ्यताओं के साथ कैसे व्यवहार किए हैं, स्वयं यूरोप पर क्रिश्चिएनिटी ने कैसे नृशंस अत्याचार किए हैं, स्वयं अरब, मिस्र, सुमेर, बाबुल व पारसीक देश की संस्कृति इस्लामी उग्रवाद ने किस प्रकार से नष्ट किये हैं, तेरह करोड़ निर्दोष व्यक्तियों की हत्या किस प्रकार कम्युनिस्टों के पैशाचिक तन्त्र ने 75 वर्षों के भीतर की है, तेजस्वी हिन्दुओं द्वारा भारत में एक भी दिन मुस्लिम शासन सम्पूर्ण देश पर कैसे नहीं रहने दिया गया, कैसे दिल्ली की छोटी रियासत का मालिक बनने का मतलब भारत का बादशाह होना बताना वैसा ही कथन है, जैसा रीवा-नरेश या पन्ना-नरेश का पृथ्वीपति होना;इन सब आधारभूत तथ्यों तक से भारतीय बौद्धिकों का बहुलांश अनजान है। हिन्दुओं के तेजस्वी वीरतापूर्ण गौरवशाली इतिहास का कुछ ज्ञान दयाकृष्ण जी को था पर अम्बिकादत्त जी को तो तनिक भी ज्ञान नहीं है। आज भी भारतीय संचार माध्यमों का एजेण्डा कौन तय करता है सामान्यतः भारतीय बौद्धिक नहीं जानते। न तो इन लोगों ने 'मास्कोज हैण्ड इन इण्डिया' जैसे दस्तावेज पढ़े हैं, न ही 'मित्रोखिन पेपर्स।' भारतीय दर्शन के मूल स्रोतों की पढ़ाई तो शायद ही कोई एकाध आधुनिक भारतीय बौद्धिक करता हो। हमारी जानकारी में तो एक ने भी नहीं की है। आत्ममुग्ध गुणगान की प्रवृत्ति अवश्य है। पर विवेक के अभाव में जब स्वयं आत्म का ज्ञान नहीं हो और गुण-दोष का भेद-विवेक

ही नहीं हो, तब वह गुणगान वस्तुतः गुणगान है या दोषगान, यह कैसे तय हो? आपात्काल में छल-बल से घुसेड़े गए 'सेकुलरिज्म' और 'सोशलिज्म' जैसे प्रत्ययों को भारत की सनातन प्रकृति से जोड़कर देखना-बताना इसी विवेकशून्यता का परिणाम है। जो भी शुभ शक्तियाँ भारत में जगें, उनकी निन्दा करने लगना, भारतीय तेज और वीरता की अभिव्यक्ति के विषय में कभी कोई विचार ही नहीं करना तथा तेज और वीरता के क्रूर दमन का जोश भरा समर्थन करना इसी विवेकशून्यता के अंग हैं। दर्शन के क्षेत्र में भी बौद्धिक अराजकता की व्याप्ति हो जाना इस बौद्धिक भ्रान्ति की पराकाष्ठा है। इसकी समाप्ति की सम्भाव्यताएँ क्या हैं? इस पर विचार के लिए एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता होगी। वह फिर कभी।



# अलबेला फकीर थासाई बुल्लेशाह

**महीप सिंह***

इस देश में धार्मिक उदारता और सहष्णुता की लम्बी परम्परा की लहर सभी प्रकार की संकीर्णताओं और विग्रहों के बीच सदा ही प्रवाहित होती रही है। इस प्रकार की भावना के निर्माण करने में सूफी संतों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। ये सूफी फकीर न धर्मान्धता के शिकार थे, न किसी भाषा के व्यामोह से पीड़ित थे। यही कारण था कि अवधी, पंजाबी, सिंधी, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में इन फकीरों ने रचना की, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। सूफी संतों के पास जाने वाले श्रद्धालु भी कभी एक धर्म अथवा सम्प्रदाय तक सीमित नहीं रहे। आज भी इनकी दरगाहों पर मुसलमानों के साथ ही गैर मुसलमान श्रद्धालुओं की संख्या भी बड़ी मात्रा में दिखाई देती है।

बुल्लेशाह अठारहवीं शती के पंजाब के सुप्रसिद्ध सूफी संत कवि थे। वे कसूर (अब पाकिस्तान में) के रहने वाले थे। उनका जीवन काल सन् 1680 से 1752 ई. तक माना जाता है।

बुल्लेशाह अपने समय के उन कवियों में से थे जिन्होंने धार्मिक कट्टरता, रूढ़िवाद, साम्प्रदायिक संकीर्णता का तीखा विरोध करते हुए मानवीय एकता और उसकी प्रेरक शक्ति 'प्रेम भावना' का खुलकर प्रचार किया। धर्म या मजहब मानव मात्र में प्रेम और भाई-चारे की भावना को जाग्रत करने और उसे बढ़ाने के लिए अपनी सार्थक भूमिका नहीं निभाता है, जब वह संकीर्ण सीमाओं में घिर कर भेदभाव और आपसी विद्वेष का साधन बनने लगता है, तो बुल्लेशाह जैसे सूफी फकीर बागी हो उठते हैं। बुल्लेशाह इसी मानसिकता को अपनी एक 'काफी' में व्यक्त करते हुए कहते हैंमैं नहीं जानता कि मैं कौन हूँ, न मैं मस्जिद में जाने वाला मुसलमान हूँ, न मैं काफिरों के रीति-रिवाजों में हूँ, न मैं पवित्र धामों को भ्रष्ट करनेवाला हूँ...मैं तो एक ही बात जानता हूँ कि अपने दिल की करो... बस इसी एक नुकते पर बात खत्म हो जाती है

बुल्ला की जाणा मैं कौण
ना मैं मोमन विच मसीतां

* डॉ. महीप सिंह, एच-108, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-110026

ना मैं विच कुफर दीआं रीतां
ना मैं पाकां विच पलीतां।
× × ×
इक पुकते विच गल्ल मुकदी ए
फड़ नुकता छोड़ हिसाबां नूं
कर दूर कुफर दिआं बाबा नूं
लाह दोजख गोर अजाबां नूं
गल ऐसे घर विच ढुकती ए
इक नुकते बिच गल्ल मुकदी ए

बुल्लेशाह धार्मिक कर्मकांड और दिखावे का खंडन करते थे और इस बात पर आग्रह करते थे कि बाह्याडंबर करने से अंदर की बात नहीं छिपती

ऐवे मत्था जमीं घसाईदा
लम्मा पा महिराब दिखाई दा
पड़ कलमा लोक हसाई दा
दिल अंदर समझ ना लिआई दा
कदी बात सची वी लुकदी ए
इक नुकते विच गल मुकदी ए

साधक के मन में जब ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो जाती है तो न वह हिन्दू रहता है न मुसलमान। प्रेम उसका धर्म बन जाता है। बुल्लेशाह ने इस भाव को व्यक्त करते हुए कहा था

ऐसा जागिआ ज्ञान पलीता
ना हम हिन्दू ना तुरक जरूरी
नाम इश्क दी है मंजूरी
आशिक ने हर जीता
ऐसा जागिआ ज्ञान पलीता

पंजाब के लोक जीवन में हीर रांझा की प्रेम कथा जहाँ एक ओर लौकिक जीवन के अनूठे प्रेम को प्रकट करती है, वहीं उसमें अनेक आध्यात्मिक और पारलौकिक संकेत भी छिपे हुए हैं। सूफी कवियों ने इहलोक की प्रेम कथाओं का पारलौकिक ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए सहज सहारा लिया। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति इहलौकिक प्रेम की तीव्र अनुभूति पाकर ही पारलौकिक प्रेम की ओर बढ़ता है। इसी को सूफी कवि इश्क मजाजी (भौतिक प्रेम) से इश्क हकीकी (आध्यात्मिक प्रेम) की ओर अग्रसित होना कहते हैं।



बुल्लेशाह के लिए इश्क हकीकी का सबसे बड़ा प्रतीक रांझा है और उसका जन्म स्थान तख्त हजारा उसके लिए मक्के से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि हाजी लोग मक्के की यात्रा करते हैं, परन्तु मेरा मक्का तो रांझा और तख्त हजारा है

हाजी लोक मक्के नू जांदे
मेरा रांझा माही मक्का
मै तां मंग रांझे दी होई आं
मेरा बाबल करदा धक्का
हाजी लोक मक्के नूं जांदे
मेरे घर विच नौ सहु मक्का
विच्चे हाजी विच्चे गाजी
विच्चे चोर उचक्का
हाजी लोक मक्के नूं जांदे
असां जाना तख्त हजारे
जिस वल यार उसे वल काबा
भावें फोल किताबां चारे॥

व्यक्ति को जब इस अलौकिक प्रेम की लगन लग जाती है तो उसे अपने प्रेम में नित्य नई बहार दिखाई देती है। उस समय वह अपना-पराया सब कुछ भूल जाता है। उसकी अपनी धार्मिक सीमाएँ भी उसके सामने छोटी हो जाती हैं। वह सभी का हो जाता है। बुल्लेशाह के शब्दों में

इश्क की नवीओं नवीं बहार
जा मैं सबक इश्क दा पढ़िआ
मसजिद कोलो जी उड़ा डरिआ
डेरे जा ठाकर दे वड़िया
जित्थे वजदे नाद हजार
इश्क दी नवीओं नवीं बहार
× × ×
वेद कुरानां पढ़ पढ़ थक्के
सजदे कर दिआं घस गए मत्थे।
ना रब तीरथ ना रब मक्के,
जिस पाया तिस नूर अनवार
इश्क दी नवीओं नवीं बहार॥

बुल्लेशाह धार्मिक संकीर्णता और कर्मकांड के विरुद्ध एक विद्रोही कवि थे। ऐसे विद्रोही कवियों को अपने समय में धर्म और समाज के कट्टरपंथियों का तीखा विरोध

सहना पड़ता है। परन्तु बुल्लेशाह जैसे फकीर सच्ची बात कहने से कभी नहीं झिझकतेयह जानते हुए भी कि सच बात कहने से चारों ओर तूफान मच जाता है

मुंह आई बात न रहिंदी ए
झूठ आखां ते कुछ बचदा ए
सच आखिआं भांबड़ मचदा ए
जी दोहां गलां तो जच्चदा ए
जच जच के जिहबा कहिंदी ए
मुंह आई बात ना रहिंदी ए

बुल्लेशाह के शब्दों में दुनिया में तो झूठ का अंधेरा छाया हुआ है। इसमें चारों ओर माया की फिसलन है। मनुष्य सब कुछ बाहर-बाहर ढूँढ़ता है, अंदर की ओर झाँकता नहीं

एथे दुनिया विच हनेरा ए
इह तिलकण बाजी विहड़ा ए
वड़ अंदर देखो किहड़ा ए
किउं खफतण बाहर ढुँडेदी ए
मुंह आई बात ना रहिंदी ए

धार्मिक बाह्याडंबर करने वाले लोग अपने आप को कर्मकांडों की आड़ में छिपा लेते हैं। बुल्लेशाह कहते हैं तुम अपने आप को किससे छिपा रहे हो। कहीं तुम मुल्ला हो कर बोलते हो, कहीं राम की दुहाई देते हो, कहीं सुन्नत को अपना मजहब बताते हो, कहीं माथे पर तिलक लगाते हो, कहीं चोर बनते हो, कहीं काजी बनते हो

कहु किस थों आप छिपाई दा,
कहु किस थों आप छिपाई दा,
कहु मुल्ला होए बुलेंदे हो,
कहूँ राम दुहाई दें दे हो,
कहूँ सुन्नत मजब दसेंदे हो
कहूँ माथे तिलक लगाई दा,
किते चोर बने किते काजी हो
कहु किस थों आप छिपाई दा।

परन्तु हमारे संसार का चलन तो निराला है। लोगों ने अपने चारों ओर झूठ का इतना पसारा कर रखा है कि सच को सुनना नहीं चाहते। इसलिए इसके अतिरिक्त और क्या उपाय रह जाता है कि व्यक्ति चुप रह कर अपने दिन काट ले। संसारी लोग सच सुन कर लड़ने पर आमादा हो जाते हैं, वे सच कहने वाले के पास बैठना भी नहीं



चाहते। परन्तु ईश्वर के प्रेमी के लिए तो सच ही सबसे मीठी चीज है। बुल्लेशाह कहते हैं

चुप करके करीं गुजारे नूँ।
सच सुण के लोक न सहिंदे नी,
सच आखीएं तां गल पेंदे नी,
फिर सचे पास ना बहिंदी नी
सच मिट्ठा आशक प्यारे नूँ
चुप करके करीं गुजारे नूँ।

बुल्लेशाह सूफी फकीर थे। उन पर भारतीय अद्वैतवाद, गुरुमत और मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। अपने प्रियतम से बिछुड़ी हुई और सांसारिक मोह माया में सोई हुई जीवात्मा को जगाने और उसे आत्मबोध देने की उनकी शैली लगभग वैसी ही है जैसी उस युग के अन्य भारतीय संतों की थी। जीवात्मा को झझकोरते हुए वे कहते हैं

उठ जाग घुराड़े मार नहीं
इह सौण तेरे दरबार नहीं
इक रोज जहानो जाणा ए
जा कबरे विच समाणा ए
तेरा गोश्त कीड़ियां खाणा ए
कर चेता मरण विसार नहीं

वे आत्मा रूपी नारी से कहते हैंप्रभु से तुम्हारे विवाह की वेला निकट आ गई है। परन्तु तुमने तो कोई तैयारी नहीं की है। तुम सो कर उम्र गंवा रही हो। तुमने अपने चर्खे पर अभी तो ताना भी नहीं चढ़ाया। तुम मिलन के अवसर पर क्या करोगी? तुम्हारा दहेज तो अभी तैयार नहीं है।

तेरा साहा नेड़े आया ए।
कुझ चोली दाज रंगाया ए।
किऊं आपणा आप वजाया ए।
ऐ गफलत तैनू सार नहीं
उठ जाग घुराड़े मार नहीं
× × ×
तूं सुतिआ उमर वजाई ए
तू चर्खे तंद न पाई ए
की करसैं? दाज तिआर नहीं
उठ जाग घुराड़े मार नहीं।

बुल्लेशाह पंजाबी भाषा के कवि थे, परन्तु उस युग के संत कवि किसी एक भाषा से बंधे हुए नहीं थे। उन्हें समाज के विभिन्न वर्गों में अपनी बात पहुँचानी होती थी, इसलिए जब जैसी जरूरत होती थी वे अपनी भाषा में नया रंग भर लेते थे। भाषा का यह खुला रूप बुल्लेशाह की इस कविता में दिखाई देता है

अब लगन लगी किह करीए।
ना जी सकीए ते न मरीए
तुम सुनो हमारी बैना
मोहे रात दिने नहीं चैना
हुए पी बिन पलक न सरीए
अब लगन लगी किह करीए
इह अगन बिरहों की जारी
कोई हमरी प्रीत निवारी
बिन दरसन कैसे तरीए
अब लगन लगी किह करीए
बुल्ले पई मुसीबत भारी
कोई करो हमारी कारी
इक अजिहे दुख कैसी जरीए
अब लगन लगी किह करीए॥

सूफी परम्परा में बुल्लेशाह जैसा मतवाला और फक्कड़-मिजाज, धर्म/मजहब की तंगदिली को पूरी तरह नकार देने वाला सहिष्णुता से भरपूर व्यक्तित्व दूसरा नहीं दिखाई देता।



# प्रचार

## शंकर पुणतांबेकर*

एक नूर आदमी, दस नूर कपड़ा तो हजार नूर प्रचार।

सालों पुरानी बात है, इंदौर में हुकुमचंद सेठ का कांच-महल देखा था। एक स्थान पर उसमें ऐसे आईने लगे थे कि एक मैं की लम्बी कतार मैं देख रहा था। जिस दिशा में देखता उधर।

प्रचार में भी ऐसा ही होता है। आईने में तो बिम्ब की जरूरत होती है प्रतिबिम्बों के लिए। प्रचार तो ऐसा जादू है कि बिना बिम्ब के ही प्रतिबिम्ब खड़े हो जाते हैं, सर्वत्र।

आईने में तो मैं ही अपना प्रतिबिम्ब देखता हूँ, दूसरे नहीं देख पाते। प्रचार में मेरा प्रतिबिंब दूसरे देखते हैं, और दूसरे देखें इसीलिए यह होता है। इस मायने में कह सकते हैं प्रचार तस्वीर है।

अब आप देखिए, तस्वीर में मैं हूँ और सीधे मैं नहीं हूँ जैसे आईने में होता हूँ।

इससे भी आगे और देखिए, प्रचार में मैं हूँ और सीधे मैं नहीं हूँ जैसे तस्वीर में होता है।

आईने में और तस्वीर (या मूर्ति) में भी मैं आकार हूँ जबकि प्रचार में मैं निराकार हूँ।

निराकार में शरीर नहीं रह जाता केवल गुण या तत्त्व रह जाते हैं, यही बात प्रचार में है। इस तरह गुण और तत्त्व युक्त प्रचार विचार का ही वहन करता है। इसमें मैं निमित्त हूँ। गुण और तत्त्व के पोषण में भगवान भी तो निमित्त होता है, ऐसे ही जैसे पेड़ा कुनैन के पोषण में। हम कुनैन कड़वी है सो फेंक देते हैं, मीठा पेड़ा चाव से खा लेते हैं। हम आशय फेंक देते हैं और मीठी कथा का बड़े भक्तिभाव से पाठ करते हैं।

आईने से प्रचार तक की विकास यात्रा वास्तव में स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा है रूप से गंध की।

* 2, मायादेवी नगर, जलगांव-425002

प्रचार में गंध ही पहुँचाया जाता है। बुद्ध के अनुयायी देश-विदेश में प्रचार के लिए बुद्ध की गंध को ही ले गये थे। रूप तो बाद में पहुँचा जब ग्राही गंध की मादकता में उसके लिए तड़प उठे।

विवेकानंद शिकागो में गंध के साथ ही तो पहुँचे थे।

बुद्ध या विवेकानंद के प्रचार में इनके अपने लाभ नहीं जनहित की बात थी। इस तरह इनके अनुयायियों का प्रचारकार्य अपने आप में पुण्यकर्म था। पुण्यकर्म इसलिए कि अनुयायी गंध बेचते नहीं थे बाँटते थे।

धर्म बाँटने के लिए ही होता है। और बाँटने की इस क्रिया में सीख और प्रचार में भेद नहीं रह जाता। धर्म बड़ों की सीख का विषय है जिसकी पाठशाला मंदिर-मस्जिद है।

सीख और प्रचार में यदि फर्क करना ही चाहें तो कह सकते हैं कि सीख में हम स्वेच्छा से गुरु के पास जाते हैं, प्रचार में स्वयं गुरु हमारे दरवाजे पर आता है। साधु-संत, पीर-फकीर हमारे दरवाजे पर भिक्षा के बहाने यही कार्य करते हैं। हाँ, ये सच्चे न हों तो प्रचार के बहाने भिक्षा बटोर ले जाते हैं।

धर्म बाँटने की क्रिया में दरवाजे पर अब ऐसा भी दिख पड़ता है कि प्रचारक सीख भी देता है और भिक्षा भी।

भारत में विदेशी मिशनरी क्या यही कार्य नहीं कर रहे हैं! ये लोग चुन-चुनकर ऐसे लोगों के पास पहुँचते हैं जिनके मकानों की दीवारें ही नहीं हैं। और इनके प्रचार-अभियान में, इसे अभियान क्या युद्ध ही कहा जाये, शीतयुद्ध, देशी सीख परास्त हो जाती है। प्रचारवालों की सीख से नहीं भीख से।

अब प्रचार में गंध नहीं रह गयी, गंधाभास आ गया है जो रूप में से पेश किया जाता है। गंध की परख रूप से होने लगी और प्रचार की मार कि हम रूप को ही गंध मानने लगे। और भी, जितनी गंधहीनता उतनी प्रचार-प्रचुरता। कहना न होगा कि प्रचार-प्रचुरता के पीछे लक्ष्य जनहित का इतना नहीं जितना स्वहित का। विकास के साथ प्रचार धर्म रहा ही नहीं वह अर्थ और काम बन गया। धर्म में भी।

प्रचार अब राजनीति और वाणिज्य का अंग बन गया है, बल्कि इनका प्राण।

प्रचार का जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे अंग्रेजी के पब्लिसिटी, प्रोपेगंडा और एडवरटाइज़मेंट तीनों एक ही थैली के चट्टेबट्टे लगते हैं। हिंदी में इन्हें क्रमशः प्रकाशन, प्रचार और विज्ञापन कह लें, पर प्रकाशन में प्रचार-विज्ञापन नहीं है, प्रचार में विज्ञापन-प्रकाशन नहीं है अथवा विज्ञापन में प्रकाशन-प्रचार नहीं है ऐसा हम कह नहीं सकते। मुझे तो ये समान चेहरे और कद-काठीवाले तिड़वाँ भाई लगते हैं।



तीनों के बारे में मैं ऐसा गुत्थी भरा था कि फरक समझने के लिए मैं अपने दोस्त राजाराम के पास पहुँचा।

मैंने अपनी बात जब उसके सामने रखी तो वह बोला, तुम क्या सारी दुनिया कन्फ्यूज्ड है इन तीनों धूर्त्त शब्दों को लेकर। और उसने मुझे बड़े मनोयोग से और पूरे विस्तार के साथ फरक समझाया। इसके लिए उसने एक शब्द पकड़ासंविधान। कहा पब्लिसिटीसूचना या प्रकाशन अफसरी शब्द है, प्रोपेगंडाप्रचार-प्रसार नेताई शब्द है तो एडवरटाइज़मेंटविज्ञापनढोल व्यापारी शब्द है।

संविधान को लेकर अफसर कहेगासुनो, संविधान बना है। यह 'बना' पर जोर देगा।

संविधान को लेकर नेता कहेगादेखो, संविधान हमारा है। यह 'हमारा' पर जोर देगा।

संविधान को लेकर व्यापारी कहेगा - रुको, संविधान यहाँ है। यह 'यहाँ' पर जोर देगा।

राजाराम के विस्तार को आगे मैं अपने शब्दों में पेश कर रहा हूँ।

ऊपर के तीनों उदाहरण में 'संविधान' तो है पर जोर संविधान पर नहीं है। पब्लिसिटी हो, प्रोपेगंडा या विज्ञापन इसमें बात मूल मुद्दे की नहीं होती, होती है संकलनत्रय में से किसी या किन्हीं तत्त्वों की। पहले उदाहरण 'बना है' में मुद्दा प्रसंग (व्यक्ति) का है; दूसरे 'हमारा है' में मुद्दा नेता और जनता के आपसी सम्बन्ध का जरूर है, पर चुनाव के समय का, तीसरे 'यहाँ है' में तो सीधे-सीधे स्थल-दुकान की बात है।

मैं किसी बात की मजबूरी से सरकारी दफ्तर जाता हूँ। मैं अपनी बात अफसर के सामने पेश करता हूँ तो वह बड़ी रुखाई से कहता है, सुनो संविधान बना है। बाहर नोटिस बोर्ड पर देख लो, अखबारों में साया हुआ है नहीं देखा क्या! 'बना है' पर जोर होने से ध्वनित होता था कि शिकायत पैदा करने के लिए संविधान बना है, सो सरकार या किसी के खिलाफ शिकायत करना गैर संवैधानिक है।

मैं नोटिसबोर्ड पर जाता हूँ। वहाँ पब्लिसिटी के चेहरे में मुझे प्रोपेगंडा का चेहरा भी दिखा और एडवरटाइज़मेंट का भी।

मैं लौटकर अफसर के पास जाता हूँ। वह तब तक कुर्सी में ऊँघने लगा था। कहता हूँ, संविधान की प्रति है कहाँ, मुझे संविधान दिखाइए।

चुप! मेरी बात सुनकर वह चिल्लाता है, कह दिया न तुमसे संविधान बना है!

मेरे कहने पर कि वही तो मुझे देखना है, अफसर ने मेरा नाम पूछा, जाति पूछी, ओहदा-व्यवसाय पूछा!

मैं चिढ़कर कहता हूँ, क्या अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग संविधान हैं?

अफसर चपरासी के लिए घंटी बजाता है। चपरासी के आने पर उसे कहता है इस आदमी को बाहर निकाल दो।

क्रुद्ध होकर मैं प्रतिक्रिया व्यक्त करता हूँ, क्या संविधान में लिखा है कि संविधान की बात करने वाले को बाहर खदेड़ दो? बाहर ब्लैकबोर्ड पर संविधान में मैं हूँ, पर अंदर केबिन में मैं देख रहा हूँ मैं कहीं नहीं हूँ।

पब्लिसिटी कहती है मैं स्वतंत्रता, समानता, न्याय का हकदार हूँ पर इन्हीं से मैं वंचित हूँ।

चपरासी मुझे बाहर सड़क तक खदेड़ देता है। मैं अनुभव करता हूँ पब्लिसिटी कैसी मगरूर है। उसे अपने अधिकार की तो चिंता है कर्तव्य की नहीं। पब्लिसिटी अपनी 'सुनो' तो खूब सुनाती है, जनता की 'सुनो' जरा नहीं सुनती। अपनी सुना दी, काम खत्म। लोगों ने सुनी या नहीं सुनी, सुनकर क्या प्रतिक्रिया हुई इससे उसे कुछ लेना-देना नहीं है। पब्लिसिटी को विज्ञापन की भाँति बेचने-वेचने का काम जो नहीं कि वह प्रतिक्रिया की चिंता करे। 'कोऊ मृत होऊ हमें का हानी' की ब्यूरोक्रेटी चमड़ी में और गैंडे की चमड़ी में कोई फर्क नहीं होता। पब्लिसिटी प्रगति के ऊँचे आँकड़े नोटिसबोर्ड पर और दुनिया-भर के अखबारों में पेश कर रही है, इसके बावजूद भी मैं यदि भूखा-नंगा बेघर हूँ तो कोई क्या करे।

मैं भूखा-नंगा-बेघर हूँ की कभी पब्लिसिटी नहीं होती! इसलिए कि पब्लिसिटी ब्यूरोक्रेट है। संविधान ब्यूरोक्रेट न हो, पर ब्यूरोक्रेट के हाथों में पड़ ब्यूरोक्रेट बन जाता है।

भूखे नंगे-बेघर को संविधान ने उठाने के लिए आवाज तो दी है, लेकिन ब्यूरोक्रेट की पब्लिसिटी अपने ऊँचे ढोल में उसे दबा देती है। यह हाथी भूखों को रोटी लेकर निकलता है, इस बात की बड़ी पब्लिसिटी होती है, किंतु हाथी के पैरों तले कितने भूखे चींटियों की तरह कुचल जाते हैं, इस बारे में वह मौन रहती है।

मैं बाजार जा रहा हूँ सौदा खरीदने कि मेरे कानों में आवाज आ पड़ती है, देखो, इधर देखो। संविधान देखो।

यह संविधान हमारा है। मेरा भी आपका भी।

आवाज नयी नहीं थी और न संदेश ही। संदेश जता रहा था कि चुनाव का समय आ गया है।

आगे बढ़ने पर सड़क के किनारे मुझे नेता खड़ा हुआ दिखायी देता है उस विक्रेता की तरह जो मजमा इकट्ठा कर शिलाजीत जैसी जड़ीबूटी, सांडे का तेल, बजरबट्टू आदि बेचता है। विक्रेता चीजों के गुण गाता है, यह अपने ही गुण गा रहा था। गुण गाता है अपने ही नाना मुद्रा के चित्रों को पॉइंटर से दिखाकर जिन्हें उसने सड़क के किनारे खड़े किये होर्डिंग पर चिपका दिया था। गुण गाते बीच में ही वह



संविधान की बात करता जिसे वह स्टूल पर रखे हुए था। संविधान भी वह पॉइंटर से दिखाता।

देखो, संविधान देखो। इस संविधान ने जो मुझे दिया है वही आपको दिया है। यह संविधान हमारा है। इसे ज्यादा से ज्यादा आपका बनाने का काम मैंने किया है। मेरी मुद्रा चित्रतीन में देखो। मैं मुस्करा रहा हूँ। मुस्करा रहा हूँ, इस बात पर कि आप लोगों की खुशहाली के लिए मैं विदेश से अरबों का कर्ज लाने में सफल हुआ हूँ। आँखे देखों, आँखों में सपने तैर रहे हैं जिसमें आप लोग नाच रहे हैं, गा रहे हैं, उछलकूद कर रहे हैं। चित्र दो की मुद्रा की रेखाओं पर गौर करो। मुद्रा जैसे मेरी नहीं है देश की है देश की। अब क्या बताऊँ आपको। मुझ जैसा देशभक्त और दूसरा नहीं मिलेगा आपको। यह संविधान हैहमारा संविधान है। होर्डिंग पर मेरे जितने भी चित्र लगे हुए हैं, विदेशों में सभी खूब सराहे गये हैं। ये ऊँचे चित्रकार की कूची से जो उतरे हैं। चित्रकार ऊँचा हो पर मैं स्वयं कम ऊँचा नहीं हूँ। देश के लिए मैंने क्या-क्या नहीं किया! अंग्रेजी को बनाये रखा, देश का विदेशी चीजों के लिए दरवाजा खोल दिया, विदेशी शासन और न्याय प्रणाली को बरकरार रखा। चित्र नंबर आठ की मेरी मुद्रा देखो। इसमें से दृढ़ संकल्प झलकता है देशी-विदेशी के फर्क को खत्म करने का। चित्र में मुद्रा की नाक देखो। ऐसी उठी हुई नाक बता दो किसी और की हो। कटु पराजयों में भी यह ऐसी ही उठी हुई रहती है। यह संविधान हैहमारा संविधान है। इसे ज्यादा से ज्यादा आपका बनाने का काम मैंने किया है। मुझ जैसा देशभक्त और दूसरा नहीं मिलेगा आपको।...

मैं देखता हूँ नेता सांडे के तेल की तरह अपनी घोषणा बेच रहा हूँ। इसकी बनायी यह घोषणा-दवा जनता के सारे दुखदर्द को देखते-देखते दूर कर देगी। दुखदर्द बेरोजगारी का, महँगाई का, अन्याय-शोषण का, अशिक्षा-अभाव का। होर्डिंग पर आँख गड़ा कर देखता हूँ तो वहाँ चित्रों में बैठे प्रोपेगंडा में मुझे विज्ञापन की मुद्रा झलकती है जो हमें ठगने की ताक में रहती है। प्रोपेगंडा हो या विज्ञापन ये अपना सर्टिफिकेट आप लिखते हैंमैं नेता हीरालाल / साबुन लक्स प्रमाणित करता हूँ कि मुझ-जैसा मैं ही हूँ। आजमाकर देखिए आपको विश्वास हो जाएगा। मैं बार-बार जोर देकर कहता हूँ कि मुझ-जैसा शुद्ध, प्रामाणिक, विश्वसनीय और बेहतर अन्यत्र दुर्लभ है। अतः आप मुझे ही चुनें।

यहाँ से कुछ कदम आगे बढ़ने पर 'देखो, इधर देखो। संविधान देखो' की आवाज फिर कानों पर आ टकराती है। इस बार नेता सड़क के विरुद्ध किनारे पर है। मजमा यहाँ भी है और होर्डिंग पर लगे नेता के चित्र भी। स्टूल पर संविधान की प्रति है, नेता के हाथ में पॉइंटर है। सब-कुछ वैसा ही सिर्फ दशा विरुद्ध की है। नेता के भाषण में भी विशेष फर्क नहीं है। यह भी दावा करता है कि संविधान को ज्यादा-से-ज्यादा जनता का बनाने का काम उसने किया है। कहता है उस-जैसा देशभक्त जनता को और कोई नहीं मिलेगा।

दोनों नेता ऊपर दी गयी सभ्य भाषा का ही प्रयोग नहीं करते असभ्य और गाली-गलौज की भाषा पर भी आ जाते हैं। गाली-गलौज की भाषा से सूरज की चमक-सा स्पष्ट है कि देश में लोग संविधान-प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का पूर्णरूपेण उपभोग कर रहे हैं।

प्रतिकार में प्रचार धारदार बनता है। प्रचार को विज्ञापन के विपरीत सीधे-सीधे हमला बोलने का अधिकार प्राप्त है। इस मायने में प्रचार एक प्रकार से तलवार ही है। इस तलवार का मुकाबला भी प्रचार से किया जाता है। इस तरह प्रचार तलवार भी है ढाल भी है। यह देखते हुए हम कह सकते हैं आज हम नित्य युद्ध में रहते हैंशांति फेल होने पर शस्त्र-युद्ध में, युद्ध फेल होने पर प्रचार-युद्ध में। शांतिकाल तो प्रचार युद्ध-काल ही है क्या देश-देश में और क्या अकेले अपने ही देश में। जिसे लोकतंत्र कहा जाता है वह प्रचारतंत्र का ही सभ्य नाम है।

यहाँ एक बात और। विचार-विचार टकराते हैं तो वे उतने ही गहरे बनते हैं, इसके विपरीत प्रचार-प्रचार टकराते हैं तो वे उतने ही छिछले।

अब तीसरे भाई विज्ञापन पर आता हूँ जो कहता हैरुको, संविधान यहाँ है।

संविधान तो सर्वत्र देश-भर में है, पर व्यंजना में, किंतु वह यहाँदुकान में अभिधा में है। यहाँ संविधान की प्रति है जिसे आप खरीद सकते हैं।

मैं संविधान के लिए दुकान में जाता हूँ। दुकानदार ने उसे भव्य और बड़ा आकार देकर ऊँचे शोरूम में रखा है। पब्लिसिटी का जैसा नोटिसबोर्ड, प्रोपेगंडा का होर्डिंग वैसा एडवरटाइज़्मेंट का शोरूम। शोरूम देखकर वह मुझे विज्ञापन का अमूर्त विज्ञापन का मूर्त अवतार लगता है। और क्या कहूँ, शोरूम में मुझे चूहे का पिंजरा नज़र आता है।

हाँ, तो मैं दुकान में जाता हूँ। ओह, आइए आइए! दुकानदार मेरा स्वागत करता है।

कितनी अच्छी बात है कि आपके यहाँ संविधान है! मैं कहता हूँ और आश्चर्य कि मेरी बात सुन दुकानदार चौंकता है।

मैं अपने मंतव्य पर आता हूँ और दुकानदार को बताता हूँ कि मुझे संविधान चाहिए। यह सुन वह नौकर को कोकाकोला का ऑर्डर देता है और मेरे सामने ब्रिटिश शर्ट, अमरीकी पैंट और स्विडिश टाई पेश करता है।

इन विदेशी चीजों में मुझे लक्स, कोलगेट, जान्सन, व्हर्लपूल, फिलिप्स, क्रॉम्प्टन खड़े दिखायी देते हैं और चीख-चीखकर अपनी गाथा मुझ पर मार रहे हैं।

मुझे संविधान चाहिए। दुकानदार से मैं यह बात ऐसे कह जाता हूँ जैसे सुरेंद्र वर्मा की नायिका वर्षा कहती है, मुझे चाँद चाहिए। मुझे लगता है संविधान यहाँ केवल शोकेस में है, केवल विज्ञापन के लिए। संविधान के नाम और ही चीजें मत्थे मारी जा रही हैं। मिशनरी जो काम गरीबों के बीच कर रहे हैं वही काम क्या बहुराष्ट्रीय



कंपनियाँ संपन्नों के बीच नहीं कर रही हैं? मिशनरियाँ प्रचार से मार रही हैं, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ विज्ञापन से। संपन्न और सुख-सुविधाओं से युक्त कितने लोग हैं जो कहते हैंमुझे संविधान चाहिए। दुख की बात तो यह है कि ऐसी हठ हमारे जिम्मेदार नेता भी नहीं करते।

नौकर कोकाकोला ले आता है, पर उससे मुँह मोड़ मैं दुकान से चल देता हूँ। शोरूम की ओर हठात् निगाह जाती है तो मुझे लगता है संविधान उस भव्यता में रो रहा है। विज्ञापन में मूल्य रोते ही हैं।

मैं देखता हूँ कि आज प्रचार-रोग के बिना वाणिज्य-राजनीति तो क्या साहित्य-कला शिक्षा-संस्कृति भी स्वस्थ और हृष्टपुष्ट नहीं बन सकते। इसके बिना अस्तित्व अस्तित्वहीन बना रहता है।

दोस्त राजाराम ने जब मुझे यह बताया तो मुझमें एकदम अस्तित्वहीनता का अहसास जागा। मैं लिख रहा था, लिख रहा था, ढेर सारा लिख चुका थातब भी साहित्य-जगत् में मैं अस्तित्वहीन था।

रोग के अभाव में मैं जर्जर था। प्रचार-रोग के अभाव में अस्तित्वहीनता से जर्जर। रोग उत्तम जर्जरता नहीं।

जर्जरता से मुक्ति के एक उपाय के रूप में मैंने प्रचार-रोग के एक मार्ग विमोचन-समारोह को पकड़ा। यह मार्ग मुझे राजाराम ने ही सुझाया। भारी से भारी प्रचार की दृष्टि से इसके आयोजन में क्या किया जाये, क्या न किया जाये, किन्हें बुलाया जाये, उनसे अपना मतलब कैसे साध्य किया जाये, उन्हें किस ढंग से प्रसन्न रखा जाये आदि बातों के ब्यौरे पूरी बारीकियों और चालाकियों के साथ उसी ने मुझे बताये। कहा, पैसे जरूर ज्यादा खर्च होंगे, पर जितना गुड़ डालोगे उतना मीठा नतीजा हाथ आयेगा। यह भी बताया कि इस बात से न डरो कि बड़े लोग बुलाने पर आयेंगे या नहीं, जरूर आयेंगे। अरे भाई, ऊँचा खिलाओगे-पिलाओगे तो क्यों नहीं आयेंगे! फिर प्रचार करने के पीछे ये भी तो प्रचारित होते हैं। विद्वान सत्यनारायण की पूजा कराने वाले पंडित की तरह होते हैं। पूजा वही, सिर्फ कथा बाँचते हुए सत्यनारायण की जगह उसका नाम होता है जो इन्हें बुलाता है।

जिस हॉल में समारोह था उसे मैंने खूब सजाया। बाहर भी ऐसी सजावट की कि जैसे शादी हो। आये हुए विद्वानों को मैंने उनके मंच पर आसीन होने से पहले साफ-साफ बता दिया कि उन्हें मेरे संदर्भ में क्या कहना है और यह भी कि मेरे पूर्व के नामी लेखकों का उल्लेख अपने वक्तव्यों में न करें। यदि करें ही तो मुझे उनसे बढ़चढ़ कर दिखायें। मुझे कालजयी लेखक कहते न अघायें। बतायें कि मैं हिंदी ही नहीं समस्त भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ लेखकों में से हूँ। समारोह वैसा ही हुआ जैसा मैंने चाहा था। राजाराम ने कहा है, इस रोग के असर का लंबा कोर्स है। सो उपाधि, पारितोषिक, पद आदि के लिए मैं इसे जारी रखूँ।

*पुस्तक-चर्चा*

# गहन अध्ययन, चिन्तन एवं मनन पर आधारित विवेचन*

**ब्रज बिहारी कुमार**

'चिन्तन, मनन और विवेचन' में इस देश की मुख्य धारा के प्रतिष्ठित चिन्तक, लेखक एवं समीक्षक डा. कुमार विमल के सम्पूर्ण आलोचनात्मक साहित्य का सर्वोत्तम संग्रहित है, जिसे उन्होंने अपने सतहत्तरवें जन्मदिन के अवसर पर अपने स्नेही, सुधी और विवेकी पाठक-वृन्द को समर्पित किया है। जैसा कि लेखक का मत है, ''इसे एक ऐसा 'सम्पुट' कहा जा सकता है जो उनके 'आलोचना-साहित्य के 'सर्वसंग्रह' का भी काम करता है।"

*चिन्तन, मनन और विवेचन* के साढ़े चार सौ पृष्ठों के कलेवर में चौदह लेख शामिल हैं, जिनमें कुछ लेख तो पुस्तकाकार ही हैं, जैसे 'ललित कला में कल्पना-तत्त्व' शीर्षक 95 पृष्ठों का लेख। पुस्तक के प्रारंभिक पाँच लेख (दूसरे लेख'भारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्य' को छोड़कर) सौंदर्यशास्त्रीय आलोचना के विभिन्न पक्षों पर लिखे गये हैं। इस संग्रह के लेखसौंदर्यशास्त्रीय आलोचना के नये आयाममें विषय से जुड़े विभिन्न पक्षों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। इसमें स्त्रीवादी सौन्दर्यशास्त्र, अश्वेत सौन्दर्यशास्त्र, अभिग्रहण सौन्दर्यशास्त्र, सांस्कृतिक सौन्दर्यशास्त्र, पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र आदि तथा भारतीय काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र, शैव दर्शन से संदर्भित सौन्दर्यशास्त्र की चर्चा विशेष महत्त्व की है। सांस्कृतिक सौन्दर्यशास्त्र प्रवासी लेखन के संदर्भ में नाटकों के अन्तर-सांस्कृतिक अपील एवं अन्तर-सांस्कृतिक पर्युत्सुकता पर भी विचार करता है। ऐसे में संग्रह का दूसराभारतीय संस्कृति और हिन्दी साहित्यएवं अन्तिम लेखप्रवासी साहित्य और सांस्कृतिक संवादविषय-विमर्श में अपेक्षित गहराई एवं सघनता लाते हैं। हिन्दी साहित्य में भारतीय संस्कृति-विषयक अनेकों पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है जिसकी चर्चा उल्लिखित लेख में की गयी है। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि अंग्रेजी में लिखे गये भारतीय संस्कृति विषयक अध्ययनों से भी अधिक इन पुस्तकों में मौलिकता की कमी है। इनमें से अधिकांश पुस्तकों में विदेशियों तथा मार्क्सवादियों द्वारा निर्मित मिथकों की भरमार है।

अगले लेख में संस्कृत काव्यशास्त्र और आधुनिक सौंदर्यशास्त्र की पारस्परिकता, उनके बीच के साम्य एवं विभेद का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस विषय में पाश्चात्य एवं कुछ भारत के विद्वान भारतीय काव्य शास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र के विभेद को रेखांकित करते हुए सौन्दर्यशास्त्र को एक पाश्चात्य शास्त्र के रूप में मान्य करते हैं। के. एस. रामस्वामी शास्त्री जैसे विद्वान इसका खण्डन करते हैं। वे भारतीय काव्यशास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र की संज्ञा देते हैं और सौन्दर्यशास्त्र के बीज चिन्तन की खोज भारतीय काव्यशास्त्र में करते हैं। यहाँ क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया गया है। लेख में संस्कृत काव्यशास्त्र में कल्पना-तत्त्व की विचारणाओं को उचित स्थान नहीं मिलने, उसमें पाँच के स्थान पर केवल तीन कलाओं (स्थापत्य, संगीत, काव्य) संबंधी विचारों के विवेचन आदि की सविस्तार चर्चा है। यहाँ लेखक का विचार महत्त्वपूर्ण है कि ''...संस्कृत काव्य शास्त्र में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की तरह सभी ललित कलाओं पर इसलिए विचार नहीं किया जा सका कि संस्कृत काव्यशास्त्र में 'उक्ति प्रधान' काव्य की गणना विद्या में की जाती रही है और कलाओं की गणना उपविद्या में। वैसे काव्य एवं कलाओं के अन्तःसंबंधों की चर्चा भरत के नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त की कृतियों और विशेषतः राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' में हुई है।" भारतीय चिन्तन में सौन्दर्यशास्त्र की प्रायः सभी आधुनिक एवं अत्याधुनिक विचारणाओं के बीज सुरक्षित हैं, इस बात की पुष्टि के लिए लेखक ने क्रोचे के नूतन अभिव्यंजनावाद एवं बुद्धघोष के कला-सिद्धान्त के साम्य की तरफ ध्यान दिलाया है।

पुस्तक के चौथे अध्याय 'अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र' में लेखक ने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप-निर्माण के अनेक बिखरे सूत्रों की चर्चा, कीर्कगार्ड और नीत्शे की कृतियों में उपलब्ध संकेतों, कामू, हाइडेगेर, यास्पर्स, मार्सल एवं सार्त्र के विभावनों की चर्चा से प्रारंभ करके कीर्कगार्ड एवं सार्त्र के विचारों पर लम्बी चर्चा की है। लेखक ने अस्तित्ववादी सौन्दर्यशास्त्र की कमियों, सीमाओं के रूप में 'स्वरचित विशिष्ट शब्दावली' (जार्गन) का प्रयोग, उसमें 'न्यस्त विरोधाभास' एवं 'खाँटी आत्मनिष्ठता' को भी रेखांकित किया है।

'ललित कला में कल्पना-तत्त्व' शीर्षक 94 पृष्ठों के लम्बे आलेख में देश-विदेश के एतद् विषयक सभी प्रमुख विद्वानों के विचारों का विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने सौंदर्यशास्त्रीय कल्पना (इमेजिनेशन) पर पाश्चात्य विद्वानों के विचारों के साथ मनोविज्ञान एवं जीव विज्ञान के अध्येताओं के विचारों के सार-संक्षेप को भी इस आलेख में स्थान दिया है। कल्पना पर पाश्चात्य विद्वानों ने अलग-अलग दृष्टि से तथा अलग-अलग नामों से विवेचन किया है। प्लेटो की 'फैंटेसिया', हाब्स की 'डिकेयिंग सेन्स (ध्वंसात्मक सोच), ब्लेक की 'इमेजिनेशन : द डिवाइन विजन'

* चिन्तन, मनन और विवेचन, डा. कुमार विमल, सद्विचार प्रकाशन, 96-ए, एम. आई. जी. एच., लोहिया नगर, पटना-800020

(कल्पना : आध्यात्मिक विभावना), कांट की मानसिक संस्थिति विशेष (एटिट्यूड आफ माइंड), उत्पादक कल्पना एवं विचारणा (आइडिएसन), कोलरिज की 'प्राइमरी इमेजिनेशन' कल्पना के विभिन्न पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोण से प्रकाश डालते हैं। वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स आदि के लेखन/कविताओं से भी कल्पना का अलग-अलग प्रकार्य/अर्थ उद्घाटित होता है। लेखक ने कोलरिज के कल्पना सिद्धान्त, उनकी विचारधाराओं एवं एडिसन के विचारों की सविस्तार चर्चा की है।

भारतीय काव्यशास्त्र एवं संस्कृत साहित्य में 'कल्पना' शब्द के अनेक प्रयोग मिलते हैं, जिसका उल्लेख इस लेख में किया गया है। इस संदर्भ में भामह द्वारा 'प्रतिभा' एवं रुद्रट द्वारा 'शक्ति' का प्रयोग उल्लेखनीय है। प्रतिभा पर विचार करने वाले आचार्यों में राजशेखर तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ही, साथ ही भट्टतोल, अभिनवगुप्त, मम्मट, पण्डितराज जगन्नाथ के विचार कम उल्लेखनीय नहीं हैं। ध्यातव्य है कि भट्टतोल प्रभावित अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिभा का स्वरूप निर्धारण, कोलरिज की कल्पना के सर्वाधिक निकट पड़ता है।

हिन्दी के आधुनिक आलोचकों के कल्पना-विवेचन में अधिकांश ने पाश्चात्य, विशेषतः अंग्रेजी, विचारकों का ही अनुगमन किया है। किन्तु आचार्य शुक्ल जैसे एकाध मनीषी हैं, जिन्होंने पश्चिम की बातों को यथावत न रखकर उसे पचाकर और समीकृत कर अपने मौलिक चिन्तन द्वारा एक नया रूप दिया। लेख में आचार्य शुक्ल के कल्पना-निरूपण को यथेष्ट जगह दी गयी है। हिन्दी तथा संस्कृत के कई कवियों ने कल्पना से अधिक 'फैंसी' का सहारा लिया है, जिसे इस लेख में रामचरित मानस, प्रसाद के आँसू एवं कामायनी, भारवि के काव्य, अभिज्ञान शाकुंतलम, नैषध चरितम् आदि से उदाहरण लेकर व्याख्यायित किया गया है। प्रत्यभिकाश्रित कल्पना, विदग्ध कल्पना या चित्र प्रगल्भ कल्पना, संकल्पित एवं असंकल्पित कल्पना, पुनरावृत्यात्मक और सृजनात्मक कल्पना, विधायक और ग्राहक कल्पना, पूरक कल्पना, मुक्तयादृच्छिकी कल्पना, तिर्यक कल्पना, सावयव कल्पना, विभाव विधायक कल्पना, तद्भव कल्पना, अतिशयमूलक कल्पना, उत्प्रेक्षामूलक कल्पना, गाणितिक कल्पना आदि की सोदाहरण चर्चा ने पुस्तक के महत्त्व को बढ़ाया है। अगले आलेख 'छायावादी सौन्दर्य-चेतना' में प्रमुख छायावादी कवियों के काव्य से उदाहरण देकर विषय को आगे बढ़ाया गया है। छायावादी सौंदर्य-चेतना के मुख्य आधार प्रकृति और नारी के सौंदर्य-चित्रण को हम अलग-अलग तथा दोनों के मिश्रण या तादात्म्य, इन दोनों रूपों में पाते हैं। उनका नारी सौंदर्य का स्वतंत्र अंकन कभी सूक्ष्म तो कभी मांसल हो जाता है। ऐसा होने पर भी ''छायावादी कवियों ने नारी-सौन्दर्य को मध्यकालीन मूल्यों से ऊपर उठाने की चेष्टा की है ...'' उनके इस मानसिक परिमार्जन का श्रेय, जैसा कि प्रोफेसर कुमार विमल ने लिखा है, कुछ अंशों में उनकी रहस्यात्मक सौन्दर्य चेतना को है।

पुस्तक के अगले छह लेखोंप्रसाद और उनकी 'कामायनी', 'राम की शक्ति-पूजा',



पन्त का प्रकृति-काव्य, महादेवी की वेदना, करुणा और दुःखानुभूति, दिनकर की उर्वशी के विविध पक्ष, तथा भारती की 'कनुप्रिया'में क्रमशः प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, दिनकर एवं धर्मवीर भारती की सशक्त कृतियों/काव्यों की पैनी समालोचना की गयी है। पुस्तक के अन्तिम दो लेख'साहित्य में विधा-वैविध्य और साहित्येतरता' तथा 'प्रवासी साहित्य और सांस्कृतिक संवाद' पुस्तक के मुख्य विषय से हटकर, किन्तु रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक हैं।

डा. कुमार विमल सफल प्रशासक, शिक्षाविद, चिन्तक एवं लेखक रहे हैं। वे विभिन्न संवैधानिक एवं सांविधिक पदोंसदस्य एवं अध्यक्ष, बिहार लोकसेवा आयोग; अध्यक्ष, बिहार अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड; अध्यक्ष, बिहार इण्टरमीडिएट शिक्षा परिषद्, संस्थापक कुलपति, नालन्दा मुक्त विश्वविद्यालय; निदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद; प्रथम अध्यक्ष, बिहार बाल श्रमिक आयोग, इत्यादि पर कार्यरत रहने की व्यस्तता के बावजूद गहन अध्ययन एवं लेखन का समय निकाल पाते रहे हैं। उनके चिन्तन-मनन-विवेचन की मौलिकता, पारदर्शिता, अवगाहन कुशलता एवं नूतन उद्भावनाओं के दर्शन हम इस प्रकाशन के पृष्ठों पर कर पाते हैं।

# हिन्दी भाषा के विकास में मराठी भाषी पत्रकारों का योगदान

## (विशेष सन्दर्भ स्वातन्त्र्य पूर्वकाल)

**तुकाराम दौड***

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा का सम्मान प्राप्त हुआ है। हम भारत के किसी भी प्रदेश के निवासी हों, हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा हमारी मानवीय चेतना का विषय है। स्वातंत्र्यपूर्व तथा स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ लगातार प्रकाशित हुई। "भारतीय पत्रकारिता के तीन चरण हैं। प्रथम अंग्रेजी पत्रकारिता, द्वितीय बंगाली पत्रकारिता एवं तृतीय हिन्दी पत्रकारिता"[1] भारत के पत्रकरिता के इतिहास में हिन्दी पत्रकारिता महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। स्वतंत्रता आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन में परिवर्तन का कार्य हिन्दी पत्रकारिता द्वारा किया गया है। यह स्वातंत्र्यपूर्ण पत्रकारिता का गौरवपूर्ण इतिहास हमें प्रेरित करता है। विशेष रूप से आजादी को राष्ट्रीय आंदोलन में रूपांतरित करने के लिए राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित महाराष्ट्र प्रदेश में रहनेवाले तथा महाराष्ट्र भूमि में जन्मे मराठी भाषी पत्रकारों ने महाराष्ट्र में और देश के अन्य प्रदेशों में रह कर हिन्दी भाषा के विकास में सहयोग दिया। "हिन्दी भाषा का साप्ताहिक उदन्त मार्तण्ड के माध्यम से पंडित जुगल किशोर शुक्ल ने प्रारम्भ किया।"[2] इसे मूलतः महाराष्ट्र के निवासी बाबूराव विष्णु पराडकरजी ने आरम्भ किया। इस परम्परा का विकास महाराष्ट्र में हो रहा है। आज महाराष्ट्र में नवभारत, प्रांतकाल, जनसत्ता, यशोभूमि, हिंदमाता, तेजस्वी भारत, लोकमत समाचार, आपका महानगर, महाविदर्भ, राष्ट्रदूत, भंडारा दर्शन, चंद्रपुर समाचार, खबरबात (चंद्रपुर), सिटीजन्स (औरंगाबाद), आदि दैनिक एवं अन्य पत्रिकाएँ प्रकाशित होते हैं। अहिन्दी प्रदेशों में इन पत्र-पत्रिकाओं का योगदान हिन्दी भाषा के विकास में लक्षणीय है।

*प्रो. डॉ. तुकाराम दौड़, माईर पुना द्वारा संचालित एम. आय. टी., जनसंचार एवं पत्रकारिता महाविद्यालय, लातूर।



भाषा संवाद का माध्यम है। "भाषा एक ऐसी शक्ति है जो मानव को मानवता प्रदान करती है"[3] भावों को प्रकट करने, विचारों को बोधगम्य बनाने तथा परस्पर व्यवहार बढ़ाने का यही एक विश्वव्यापी और सशक्त माध्यम है। भाषा के कारण मानव सुसंस्कृत होता है। सम्मान और यश का भागी बनता है। "विश्व में बोलचाल के लिए लगभग 3500 भाषाओं और बोलियों का प्रयोग होता है। चीनी और अंग्रेजी भाषा के बाद हिन्दी विश्व की प्रमुख भाषा है। जो स्वतंत्रता तथा सम्प्रभुता की अमरवाणी है।"[4] हिन्दी मानव के बुद्धि कौशल, विवेक, चिंतन, आचार-विचार, व्यवहार तथा संस्कृति की भाषा है। राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द सेन ने हिन्दी भाषा को ही भारत की राष्ट्रभाषा माना है। अहिन्दी-भाषी पत्रकारों ने भारत वर्ष की एकमात्र मुक्तिदायिनी भाषा के रूप में अंगीकार किया है।

**साहित्य और पत्रकारिता :** साहित्य मनुष्य जाति के ज्ञान और अनुभव का लिपिबद्ध रूप है। "अपने पास होने वाली वाक्-शक्ति के सहारे मनुष्य अतीत की स्मृतियों, वर्तमान की योजनाओं और भविष्य के स्वप्नों को साहित्य में उतारता है।"[5] हिन्दी साहित्य कोश में साहित्य का अर्थ दिया है"शब्द और अर्थ का यथावत सहभाग, अर्थात साथ होना। इस प्रकार सार्थक शब्द मात्र का नाम साहित्य है। साहित्य की यह परिभाषा अत्यंत व्यापक है। इसमें मनुष्य की सारी बोधन और भावना चेष्टा समाविष्ट हो जाती है। तब समस्त ग्रंथ समूह साहित्य के अंतर्गत आ जाते हैं।"[6] साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं स्मरणीयता, संक्रमणशीलता और प्रगतिशीलता। अपने तत्त्वों के आधार पर (विचार, भाव, कल्पना और शैली) साहित्य निरंतर अपने और मनुष्य जाति के विकास के रास्ते खोजता है। साहित्य एवं भाषा के माध्यम से पत्रकारिता का व्यक्तित्व साकार हो रहा है। "आधुनिक पत्रकारिता के प्रवाह में साहित्यिक सांस्कृतिक पत्रकारिता और साहित्यिक पत्रकारिता यह दो महत्त्वपूर्ण हैं।"[7] साहित्य और पत्रकारिता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों के उद्देश्यों में भी काफी समानता है। समाज को जाग्रत, जिज्ञासु, प्रबोधन के माध्यम से लोककल्याण को प्रेरित करने का मूलभूत कार्य साहित्य एवं पत्रकारिता का है। इस निबंध में हिन्दी साहित्य स्वतंत्रतापूर्वकाल में मराठी भाषी पत्रकारों एवं मराठी संपादकों ने उसका विकास किस प्रकार किया है इसका विश्लेषण किया है। सुपरिचित 'आज' अखबार के सम्पादक बाबूराव विष्णु पराडकरजी का शब्द सामर्थ्य तथा लेखन शैली पाठकों में आजादी के आंदोलन की चेतना जाग्रत करती है। पत्रकारिता एवं साहित्य का मानवीय मूल्यनिर्मिति की प्रक्रिया में निर्णायक योगदान रहा है। सत्य प्रतिपादन, अन्याय का विरोध, राष्ट्रप्रेम, धर्मनिरपेक्षता, जन कल्याण आदि मूल्य स्वातंत्र्य पूर्व पत्रकारिता में प्रतिबिंदित थे।

**मराठी भाषी पराडकर हिन्दी के सम्पादक :** स्वतंत्रतापूर्व हिन्दी पत्रकारिता के जागरण काल में (1885-1919) हिन्दी भाषा के अग्रगण्य सम्पादक तथा पत्रकार

के रूप में "पं. बाबूराव विष्णु पराडकर उभरे, जिनका जन्म 1883 में हुआ था, उनके मामा सखाराम गणेश देउस्कर बंगला भाषा के लेखक और पत्रकार थे।"[8] 'हिन्दी बंगवासी' की पत्रकारिता के माध्यम से पराडकरजी ने पत्रकारिता में प्रवेश किया। इस बीच महाराष्ट्र के मराठी दैनिक केसरी का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा। हितवार्ता नामक पत्र की नीति उन्हें अनुकूल लगी और उन्होंने सम्पादक का पद स्वीकार किया। कुछ दिनों तक पराडकरजी ने भारत मित्र के सम्पादक के रूप में अपनी अलग पहचान बना ली। इस बीच ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी गतिविधियों के कारण उन्हें तीन वर्ष का कारावास दंड मिला। जेल से मुक्त होकर ज्ञानमंडल (1920) में काम किया। तिलक और मालवीयजी की प्रेरणा से निकलनेवाले राष्ट्रीय दैनिक *आज* के (1920) वे सम्पादक नियुक्त हुए और जीवन के अंत तक इसका सम्पादन करते रहे। इनके सम्पादन में 'आज' ने राष्ट्रीय पत्रकारिता का नेतृत्व किया। विभिन्न आंदोलनों के दौरान ब्रिटिश सरकार द्वारा 'आज' के बंद कर दिये जाने पर ये 'रणभेरी' नाम से भूमिगत पत्र निकालते रहे। सम्पादकाचार्य पंडित बाबूराव विष्णु पराडकरजी की दृष्टि में पत्रकारिता तलवार की धार पर धावना था। उन्होंने कहा कि "समाज के जीवन में जिन प्रश्नों पर उचित निर्णय की आवश्यकता होती है। और जिन निर्णयों पर समाज का जीवन अंत में निर्भर रहता है, उनके बारे में जनता को योग्य जानकारी करना, उनके संबंध में जनमत का निर्माण करना, उस मत को प्रकट करना तथा उससे अधिक से अधिक लाभ जनता को पहुँचाना एक आदर्श पत्रकार का कर्त्तव्य है।"[9] पं. पराडकरजी की इस वैचारिक भावना से लोककल्याण पत्रकारिता की आत्मा बनी। हिन्दी भाषा के क्षेत्र में उनका योगदान उल्लेखनीय था। पं. पराडकरजी को 1925 में आयोजित प्रथम सम्पादक सम्मेलन के सभापति का पद देकर उनका गौरव किया गया। सन् 1938 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता दी गयी। हिन्दी भाषा, साहित्य एवं पत्रकारिता में पराडकरजी के उल्लेखनीय योगदान के लिए सन् 1953 में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने हिन्दी सेवा के लिए उन्हें महात्मा गाँधी पुरस्कार से सम्मानित किया। 1955 में पराडकरजी ने सम्पादक के पचास साल पूरे किये। हिन्दी के पत्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं कि "पूरे पचास वर्ष तक पत्र-जगत की निरंतर सेवा करनेवाले किसी हिन्दी पत्रकार का हमें पता नहीं। पराडकरजी ने पूरे पचास वर्ष से भी अधिक राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा की है।"[10] ऐसा उदाहरण हिन्दी भाषा के इतिहास में नहीं है। पराडकरजी ने हिन्दी भाषा का गौरव बढ़ाकर मौलिक कार्य किया।

**मराठी भाषी पत्रकारों का योगदान :** हिन्दी भाषाई पत्रकारिता के पितामह (सम्पादकाचार्य) बाबूराव विष्णु पराडकरजी के साथ और भी ऐसे पत्रकार हैं जिन्होंने राष्ट्रभाषा के विकास में अपना योगदान दिया। "लोकमान्य तिलक के राजनीतिक विचार देश के हिन्दी पाठकों तक पहुँचाने के उद्देश से पत्रकार माधवराव सप्रे ने



नागपुर (1907) में *हिन्दी केसरी* साप्ताहिक प्रकाशित किया"[11] मराठी के केसरी पत्र में प्रसिद्ध लेख, अग्रलेख और तिलक के भाषण मराठी से अनुवाद करने का कार्य माधवराव सप्रेजी ने किया। आधुनिक काल में हिन्दी पत्रकारिता में योगदान देने का कार्य माधवराव सप्रेजी ने किया। "सन् 1845 में काशी से *बनारस अखबार* नामक हिन्दी पत्र मराठी भाषिक सम्पादक गोविंदराव थत्ते ने प्रकाशित किया। *परोपकार* पत्रिका का प्रकाशन धर्मवीर पंडित ने किया।"[12] बॅ. वि. दा. सावरकर के छोटे भाई डॉ. ना. दा. सावरकर ने साप्ताहिक श्रद्धानंद (1927) बम्बई से शुरू किया। "मराठी श्रद्धानंद की हिन्दी आवृत्ति डॉ. सावरकर प्रकाशित करते रहे।"[13] महाराष्ट्र के अहमदनगर और कोल्हापुर से हरि सखाराम तुंगार ने 1914 तक *आर्यभानु* पत्रिका प्रकाशित करने का मौलिक कार्य किया। "1961 से 1966 इन पाँच वर्षों में तुंगारजी ने नांदेड (महाराष्ट्र) से *आर्यभास्कर* साप्ताहिक प्रकाशित किया।"[14] तुंगार घराने की परंपरा प्रा. देवदत्त तुंगारजी ने *हिन्दी मिलाप* समाचार पत्रों द्वारा आगे बढ़ाई है। सम्पादक हरि तुंगारजी ने 50 वर्ष तक आर्यसमाज की हिन्दी पत्रिका का सम्पादन भी किया। तुंगारजी ने आर्यभानु और आर्य भास्कर पत्रिकाओं द्वारा सामाजिक अंधश्रद्धा एवं सामाजिक विषयों पर वैचारिक मंथन कर पाठकों में सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना जाग्रत की। साथ में ब्रिटिश सरकार के विरोध में प्रभावी रूप से लेखन किया। देशभक्ति से प्रेरित होकर उन्होंने राष्ट्रज्योति की शक्ति लेखन द्वारा बढ़ाई। हिन्दी भाषा एवं पत्रकारिता को समृद्ध करने में महाराष्ट्र में जन्मे मराठी भाषी पत्रकारों का हिन्दी भाषा विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

ध्यातव्य है कि मराठी भाषी पत्रकारों ने हिन्दी निष्ठा एवं स्वदेश भक्ति का पाठ पढ़ाया, जिससे भारत में स्वतंत्रता की लहर दौड़ी। महाराष्ट्र में जन्मे मराठी भाषी सम्पादक बाबूराव विष्णु पराडकर, माधवराव सप्रे, राहुल सातपुते, गोविंदराव थत्ते, काकासाहेब कालेलकर, विनायकराव विद्यालंकार, सिद्धनाथ आगरकर, हरि तुंगार, पंडित धर्मवीर, कुशल देव कापसे, वेदकुमार वेदालंकार, डॉ. ना.वि. सावरकर आदि सम्पादकों एवं पत्रकारों ने अपने पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिन्दी भाषा, साहित्य तथा पत्रकारिता सैद्धांतिक रूप से विकसित की। पत्रकार सप्रेजीने विदर्भ में हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार किया। डॉ. ना.वि. सावरकरजी ने बम्बई से पत्रिका प्रकाशित करके कोंकण एवं परिसर में हिन्दी भाषा अनुवाद के द्वारा हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार किया। कोल्हापुर, अहमदपुर, औरंगाबाद और नांदेड जैसे पश्चिम महाराष्ट्र एवं मराठवाड़ा प्रदेश में हिन्दी भाषा के विकास का कार्य राष्ट्रीय दायित्व के नाते किया गया। महाराष्ट्र में जन्मे इन सम्पादकों तथा पत्रकारों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास में ऐतिहासिक कार्य किया है।

**सारांश :** स्वातंत्र्यपूर्वकाल में इन सम्पादकाचार्य एवं पत्रकारों ने राष्ट्रीय सुधार एवं स्वतंत्रता की तरफ ध्यान दिया। मराठी पत्रकारों ने मराठी सामग्री हिन्दी में

अनूदित करके हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार किया और आजादी के आंदोलन को व्यापक बनाया। स्वातंत्र्यपूर्व काल में मानव मूल्य निर्मिति की प्रक्रिया निर्णायक रही है। स्वातंत्र्यपूर्व जागरण काल (1885-1919) और क्रांतिकाल (1920-1947) में मराठी भाषी सम्पादक एवं पत्रकारों ने राष्ट्रीय भावना जाग्रत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और सामाजिक परिवर्तन लाए। स्पष्टतः स्वतंत्रता संग्राम को गति देने का मराठी भाषी पत्रकारों एवं हिन्दी भाषी पत्रकारों ने कार्य किया। हिन्दी भाषा के विकास में स्वातंत्र्यपूर्व काल में मराठी भाषी पत्रकारों एवं सम्पादकों का योगदान लक्षणीय है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

## संदर्भ


1. गोदरे विनोद, 'हिन्दी पत्रकारिताः स्वरूप एवं संदर्भ', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2000, पृ. 45.
2. वही, पृ. 49.
3. तिवारी डॉ. अर्जुनहिन्दी पत्रकारिता का बृहद्इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1997, पृ. 17.
4. वही, पृ. 17.
5. वर्मा डॉ. मृदुलाहिन्दी की सर्वोदय पत्रकारिता, विद्या प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण, 1993, पृ. 9.
6. वर्मा डॉ. धीरेन्द्र (संपा)हिन्दी साहित्य कोश, पृ. 846.
7. गोदरे विनोदहिन्दी पत्रकारिताः स्वरूप एवं संदर्भ, पृ. 30.
8. डॉ. रामप्रकाश डॉ. सुधीन्द्र कुमारपत्रकारिता संदर्भकोश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ. 167.
9. वर्मा डॉ. मृदुलाहिन्दी की सर्वोदय पत्रकारिता, पृ. 16.
10. वही, पृ. 168.
11. तुंगार, क्रांति प्रकाशन, औरंगाबाद, प्रथम आवृत्ति 2007, पृ. 57.
12. वही, पृ. 58.
13. वही, पृ. 73.
14. वही, पृ. 116, 117.




# पाठकीय प्रतिक्रिया

आपका फोन आया, उसके अगले दिन 'चिन्तन-सृजन' का अंक भी मिल गया। अनुपम मिश्र की पुस्तक को आपने स्वयं पढ़कर इतने उत्साह और समझबूझ से स्थान दिया इस अंक में - यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने यह पुस्तक पढ़ी है - अनुपम ने स्वयं हमें दी थी। हमारी पत्रिका ऐसी घटनाओं को दर्ज करें - यह उसकी पहचान है, अभिप्रेत है।

शंकर शरण का सहयोग आपको मिल रहा है, यह भी बहुत उत्साहित करने वाली बात है। इस अंक में प्रकाशित उनका लेख भी बहुत काम का है। प्रो. राममूर्ति त्रिपाठी का लेख भी उत्कृष्ट है। डॉ. लोकेश चंद्र का लेख अभी पढ़ना हैः अन्य सामग्री भी। ...

सदा की तरह आपका सम्पादकीय इस अंक में अत्यन्त समयोजित और सटीक है। इसने हमारी जिन दुर्वलताओं को सूचीबद्ध रेखांकित किया है, वे युक्तियुक्त हैं सर्वथा। कोई भी भविष्यदर्शी देख सकता है। किन्तु जैसा कि कहा है 'अन्धों का क्या कीजे जी' **(प्रो.) रमेश चन्द्र शाह, भोपाल।**

'चिन्तन-सृजन' त्रैमासिक का अक्टूबर-दिसम्बर 2008 का अंक प्राप्त हुआ। साहित्य के चिन्तन और सृजन को अन्वर्थ करने वाले आलेखों से अलंकृत यह अंक पठनीय और संग्रहणीय बन गया है। अधुना सर्व सामान्य पाठकों में ब्रह्माण्ड, रामायण, तन्त्रागम, इण्टरनेट आदि के सम्बन्ध में सहज जिज्ञासा रहती है। इस अंक में पाठकों की उसी जिज्ञासा का पूर्त्ति के लिए जिन आलेखों को सम्मिलित किया गया है, वे प्रामाणिक तो हैं ही, विश्वसनीय भी हैं; क्योकि उनके लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान हैं। एतद्विषयक सभी आलेख एक साथ मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक हैं। यद्यपि ब्रह्माण्ड सम्बन्धी वैचारिकी के पल्लवन के क्रम में पाश्चात्य सन्दर्भों को अधिक मूल्य दिया है और पौरस्त्य सन्दर्भों की चर्चा अपेक्षित रह गई है। भारतीय चिन्तन में ब्राण्ड का वर्णन ततोऽधिक प्रामाणिकता से हुआ है। अन्तर-राष्ट्रीय ख्याति के धनी लेखक लोकेशचन्द्रजी ब्रह्माण्ड के पौरस्त्य चिन्तन से अवश्य ही परिचित होंगे। जैन चिन्तन में 'गोम्मटसार', 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' जैसे ग्रन्थ ब्रह्माण्डीय अध्ययन के महनीय उपजीव्य हैं।

मुझे अनुपम मिश्र का आलेख 'आज भी खरे हैं तालाब' ने अधिक आवर्जित किया है। जैसलमेर के जिस 'गड़ीसर' की चर्चा की गई है, उसे मैंने जैसलमेर की यात्रा के क्रम में स्वयं देखा है। अब वह अपने अस्तित्व को खोता जा रहा है। उसके घाट पर और मध्य में बने स्थापत्य आज भी उसकी शाही भव्यता का स्मरण दिखाते हैं। जयपुर के जलमहल की भी यही दुस्थिति है।

आज नदियों को परस्पर मिलाने की साग्रह चर्चा की जा रही है, किन्तु तालाबों की नामशेष हो रही अस्मिता का लेखा-जोखा लेनेवाला कोई नहीं है। आपने सर्वथा उपेक्षित विषय को अपेक्षित मूल्य दिया है, इस सामयिक उद्भवन के लिए आप हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

पुनः पुण्यश्लोक पं. हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' ने जिस प्रकार 'बिहार की नदियाँ' शोध-पुस्तक में नदियों की स्थिति का वर्णन किया है, उसी प्रकार आज 'भारत के तालाब' नामक शोध-ग्रन्थ का प्रणयन आवश्यक है। पर्यावरण रक्षा की दृष्टि से भी तालाबों पर शोध-अनुसन्धानपरक अध्ययन-अनुशीलन अपेक्षित है। **साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, 37, भा. स्टेट बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी, काली-मन्दिर मार्ग, हनुमाननगर, कंकड़बाग, पटना-800020.**

'चिन्तन-सृजन' बराबर मिल रही है। इसके स्तर को बनाये रखने के लिए धन्यवाद। साथ ही आपने डायरी विधा की शुरूआत प्रो. रमेशचन्द्र शाह की डायरी से करके एक उपेक्षित विधा की ओर साहित्य बिरादरी का ध्यान आकृष्ट किया है। 'साहित्य और भारतीय मानस' पर महाश्वेता देवी के भाषण के हवाले से प्रो. शाह ने एक प्रकार से भारतीय मानस का कम, अपने प्रगतिवादी मानस का परिचय अधिक दिया है। उन्हीं के हवाले से हम भी सवाल उठाना चाहते हैं कि 'क्या भारतीय समाज सदा से दमन-उत्पीड़न शोषण- विषमता वाला रहा है? (पृ. 38) (2) क्या साहित्य का काम केवल उपेक्षितों के जीवन के बारे में लिखना है?जैसा कि महाश्वेता जी का मन्तव्य छपा है।

मेरे विचार से ऐसा हमेशा नहीं रहा है। यदि ऐसा होता तो भारतीय संस्कृति दफन हो गई होती। संस्कृति-रक्षा में पुरुषों की अपेक्षा नारियों का अधिक योगदान रहता है। यदि भारतीय समाज नारियों के प्रतिअसहिष्णु रहा होता तो 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' का उद्घोष नहीं हो पाता। नारी को हमेशा मातृवत देखा गया है और माता भूमि से भी अधिक श्रेष्ठ मानी गई है। आर्थिक सामाजिक विषमताएँ थोड़ी-बहुत हर काल, देश और समाज में देखी जा सकती हैं। अतएव विषमताओं को फोकस करने के बजाय समता विधान के लिए प्रयास हर स्तर पर किया जाना चाहिए।

दूसरी बात साहित्य सब का हित साधता है। सुरसरिता के समान सभी का



मंगल विधान उसकी आत्मा है। केवल दलितों-उपेक्षितों के बारे में लिखना साहित्य को सीमित करना है। साहित्य की सहानुभूति केपात्र उत्पीड़ित-उपेक्षित तो होते ही हैं। क्रौंच वध की पीड़ा से ही तो रामायण रची गई है। **- शोभाकान्त झा, संपादकः लोक मंगल (साहित्य), कुशालपुर, रायपुर-492001(छत्तीसगढ़)।**

आप द्वारा संपादित 'चिन्तन-सृजन' के अंक निरंतर मिल रहे हैं। यह अपने किस्म की अकेली पत्रिका है, जो दर्शन-विषयक लेखों को छाप रही है। दूसरी बात यह है कि ये कोरे दार्शनिक लेख नहीं लगते, बल्कि समाजशात्रीय दृष्टिकोण की छाप व पृष्ठभूमि इन आलेखों को महत्त्वपूर्ण बनाती है। यशदेव शल्य का आलेख 'स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन', नंदकिशोर आचार्य का आलेख 'साहित्य है सत्याग्रह का स्वराज' ... अच्छे लगे। रमेश दवे जी को बीच बीच में पढ़ना सुखकर लग रहा है। कुछ लेखों में तात्कालिकता और सरलीकरण से बचना जरूरी लगता है। दूसरी तरफ, कुछ लेख अगर सिर्फ पृष्ठपोषण के लिए न लिखे-छापे जाएं, तो इस पत्रिका और सृजनात्मक साहित्य का थोड़ा ज्यादा भला हो सकता है। **प्रो. मीरा सरीन, विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग एवं संपादक - 'गवेषणा', केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।**

चिंतन-सृजन, जुलाई-सितम्बर 2008 में डॉ शीतांशु का लेख शोधपरक, दृगोन्मीलक और विचारोत्तेजक है। लोग नारी-विमर्श पर लगातार लिख रहे हैं। नारी-समस्या और पीड़ा से उनका सरोकार कम आत्म विज्ञापन से अधिक है। शीतांशु जी का यह लेख नारी-विमर्श की आवश्यकता, परंपरा, विकाश, प्रगति, उपलब्धि पर प्रकाश डालना है, जो तुलनानमक अध्ययन को भी गति और दिशा देता है। सिमोथ द बउवा ने 'सेकेंड सेक्स' लिखकर इस दिशा में क्रांति कर दी। स्त्रीवादी विमर्श की जरुरत पर लेखक की टिप्पणी हैः

''हेलेन सिक्सस ने वैसी कृति को स्त्रेवादी स्त्री-पाठ कहा है, जिसमे दमित नारी-जाति का शक्तिपूर्ण, अतिकामी और आह्लादात्मक प्रत्यागमन निरुपित हो पाता है। स्त्रीवादी लेखन (Feminst Writing) स्त्री की जैविक (biological) हीनता को खारिज करता है। ... स्त्रीवादी लेखन किसी भी रूप में नारी कोउपसंस्कृति (sub-culture) के रुप में देखने का प्रबल विरोध करता है।''

इतने छोटे लेख में नारी-विमर्श की सारी संभावनाएँ, कमियाँ, उजागार हूई हैं। बिहार में कोसी द्वारा ढाए प्रलय पर ब्रज बिहारी कुमार का आलेख मानों आँखों देखा हाल कहता है। सिक्किमी संघर्ष सामंतवाद और साम्राज्यवाद की जड़ हिला देना चाहता है, अपनी इयत्ता, सत्ता, आजादी के लिए, वही समाज विज्ञान (NEHU) के

प्रो. सिन्हा ने इस पर सम्यक प्रकाश डाला है। भगवान सिंह की समीक्षा कृति की अंतरात्मा से साक्षात्कार कराती है। सभी लेखकों को बधाइयाँ।

अक्टूबर-सितंबर 08 अंक में आपका संपादकीय विचारात्मक और समस्याओं के समाधान का प्रयासलगता है। इतनी गहराई में समस्या में उतरना गहना अध्ययन-शोध की परिणति है। आंतकवादी हमले के पीछे हमारी अपनी ही कमजोरियाँ (जिसका विस्तृत वर्णन है) हैं, उनसे निजात पाए बिना उसका (आंतकवाद) सामना नहीं हो सकता है। डॉ. रमानाथ त्रिपाठी की लगभग सभी कृतियों पर मुझे लिखने का अवसर मिला है। आपने 'शंख सिंदूर' का सुंदर व संतुलित विवेचन किया है। यह एक मानक निदर्शन है समीक्षा का। डॉ. सिन्हा ने पाँचवे भूटान नरेश के राज्यभिषेक के बहाने वहाँ धर्मतंत्र, राजतंत्र और प्रजातंत्र की दुर्बोध पहेली सुलझाई है। डॉ. सिन्हा इस विषय के अधिकारी विद्वान हैं। श्रीराम परिहार ललित निबंध केआचार्य हैं और आधुनिकता के संदर्भ में ललित निबंध की महती भूमिका का मूल्यांकन यहाँ अभीष्ट है। उनकी स्थापना युक्ति संगत हैः ''आधुनिकता की दुनिया में आज प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को अकेला और अधूराअनुभव कर रहा है। ललित निबंध उसे व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समाज, व्यक्ति-प्रकृति और व्यक्ति-विश्व की पारस्परिकता की व्यावहारिकता और भावनात्मकता के द्वारा पूरा करना चाहता है'' (पृ. 83)। सभी लेखों पर टिप्पणी की जाए, तो प्रबंध लिखना पड़े। साधुवाद के शब्द नहीं मिलते।

**प्रो. मृत्युजय उपाध्याय, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बिनोवा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, संपादकः संबुद्ध (मासिक), धनबाद, संपर्कः वृन्दावन, मनोरम नगर, लूबी सर्कुलर रोड, धनबाद-826001(झारखंड)।**

'चिन्तन-सृजन' निरंतर मिल रही है। कृतज्ञ हूँ। आप जिन विचारों को जन-जन तक पहुँचाना चाह रहे हैं उसके लिये आवश्यक है कि पत्रिका मासिक हो, तथा कुछ जानकारी या लेख ऐसे भी दिये जायँ जो जनोपयोगी हों, सरल भी। आपकी सम्पादकीय चिंता समूची मानवता व देश की चिंता है, जिसमें सबकी भागीदारी जरूरी है। 'चिन्तन-सृजन' केवल विद्वानों व अधीतों की पत्रिका बनकर रह गई है जबकि इसे देश के आम-आदमी की पत्रिका बनाने की जरुरत है। मैं तो आपके सम्पादकीय की हर बार 20 छाया प्रतियाँ लोगों को बांट देता हूँ। सूचनार्थ निवेदन है कि में डॉ. नहीं हूँ। साधारण शिक्षक व लेखक हूँ।

**राम स्वरुप दीक्षित, सिद्धबाबा कालोनी, टीकमगढ़-472091.**

'चिन्तन-सृजन' लगातार प्राप्त हो रहा है। वर्ष-6 का पहला अंक अभी प्राप्त हुआ। संपादकीय पढ़ी। आतंकवाद जैसे मुद्दे पर राजनेताओं की संकीर्ण सोच ने देश का बड़ा अहित किया है। पूर्वाग्रह युक्त सोच व वोट की राजनीति से देश के सामने



समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया है। मीडिया भी अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो रही है। वह TRP के चक्कर में बड़ी ऊल-जुलूल बातों को प्रसारित कर रही है। देश को एक ऐसे वातावरण की आवश्यकता है जहाँ देश हित के साथ मानव कल्याण व बेहतरी की बात सोची जाए। हम एक अंधी सुरंग की ओर बढ़ रहे हैं। समाज में जातियों, धर्मों, व अन्य आधारों पर अविश्वास पनप रहा है। इसे घटाने व खत्म करने हेतु हम सबको आगे आना होगा। **डॉ. बहादुर सिंह परमार, छतरपुर (म.प्र.)**

अक्टूबर-दिसम्बर का अंक मिला। सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य बडा ही प्रभावशाली व सुचिन्त्य हैं। जेहादी आतंकवाद की शुरूआत जम्मू काश्मीर से नहीं होती। उसके पहले शुरू हो जाती है। इस्लामी प्रवृत्ति में जेहाद है। वे लोग प्रजातंत्र में, मानवीय मूल्यों में विश्वास नहीं रखते। उन्होंने सारे विश्व को दो भागों में विभाजित कर रखा हैः दारूल इस्लाम एवं दारूल-हरब। अब सारे दारूल हरब को इस्लाम में बदलने का प्रयत्न ही जेहाद है। बंगलादेश से करोड़ों आतंकी भारत में घुसपैठ कर चुके हैं। ... उन लोगों ने आसाम, त्रिपुरा, मेघालय आदि की जनसंख्या को बदल दिया है। उ. प्र. में तेईस जिले मुस्लिम बहुल हैं। ये लोग अपने से बाहर निकलते ही नहीं। अभी स्वात घाटी में क्या हो रहा है? लड़कियों के सारे स्कूल गिराये जा चुके हैं। लडकियों का घर से निकलना बंद। संगीत, साहित्य बंद। पाँच बार नमाज पढ़ो। हैदराबाद में 27 प्रशिक्षण केन्द्र हैं। इसका इशारा कर चुका हूँ। पर सरकार के कान पर जूँ नहीं रेंगती। आंतरिक दुश्मन ज्यादा खतरनाक हैं। **डॉ. के. एल व्यास, हैदराबाद।**

विश्वविद्यालय प्रकाशन की मासिक पत्रिका 'भारतीय वाङ्मय' (फरवरी, 2009) से ज्ञात हुआ कि मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का नरेश मेहता स्मृति वाङ्मय सम्मान आपको मिला है। इसके लिए हार्दिक बधाई!

इधर कई पुस्तकों के कार्य में सतत् व्यस्त रहा हूँ। 'चिन्तन-सृजन' के अंक प्राप्त हो रहे हैं। मध्यकाल में लिखित 'पादशाह बुरंजी' पर एक लेख पत्रिका के लिए भेजने की इच्छा है। **(प्रो.) भूपेन्द्र राय चौधरी, 58, गौहाटी विश्वविद्यालय परिसर, गुवाहटी-781014.**

आपकी पत्रिका (अंक जुलाई-सिंतबर 2008) प्राप्त हुई। आभार! प्रथम दृष्टि आपके संपादकीय पर पड़ी, जिसमें आंतकबाद व इस्लाम पर आपने अपने विचार लिखे, अच्छा लगा। आगे पढ़ने पर कुछ लेखकों के लेखों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आपकी पत्रिका के आधारस्तंभित लेखकों ने समाज, इतिहास, स्त्रीवाद, राष्ट्र, स्तात्रंत्र्य की अभीप्सा आदि विषयों पर लिखा, जिसे पढ़कर अच्छा लगा।

आशा है कि आपके द्वारा आगे भी विभिन्न विषयों, तथ्यों को लेकर आलेख प्रकाशित होते रहेंगे।

**शिवम् शांडिल्य, ''कथायन'', यादव कॉलोनी (पटेल का बगीचा), सागर-470001 (म.प्र.).**

... हरेक अंक में हिन्दी पुस्तकों के बारे में विस्तृत जानकारी 2-3 की लिखा करें जो आप चाहते हैं कि हर एक भारतीय को पढ़ने अध्ययन के लिए जरुरी है। हम से कहां चूक हुई? क्या कारण सब होते सुनते पढ़ते, आंखे बंद कर लेते हैं। ... चिंतन-सृजन नियमित प्रकाशित होता रहे, हमें मिलता रहे।

**अशोक कुमार, पी.एस.ई.बी., मुडकी, पंजाब।**



**प्राप्ति-स्वीकार**

## पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ

### पुस्तकें

**समृद्धि** अहिंसक भी हो सकती है; प्रो. कुसुमलता केडिया एवं प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज; प्रकाशकः समग्र शोध संस्थान एच-103, अशोक नगर, वजीरा नाका, बोरावली पश्चिम, मुम्बई-91 के लिए तारा बुक, एजेन्सी वाराणसी, प्रथम संस्करणः 2009; पृष्ठः 384; मूल्यः 500 रुपये।

**जन नायक टन्टूया मामा**, जगदीश जोशीला, प्रकाशकः स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन, रवीन्द्र भवन परिसर, भोपाल-462002, द्वितीय संस्करणः2008; पृष्ठः 226; मूल्यः 100 रुपये।

**छमटीवाला दोरहा, निमाड़ी दोहा संग्रहः** जगदीश 'जोशीला', प्रकाशकः नवीन प्रकाशन अंबिकापुरी, गोगावां, जिला खरगोन (म.प्र.), प्रथम संस्करणः 2009; पृष्ठः 68; मूल्यः 50/- रुपये।

**पंखों पर आकाश,** गोविन्द कुमार ''गुजन'' प्रकाशकः मोनिका पब्लिकेशन, दु. न. 1-2, अरिहन्त कॉम्पलेक्स, माहेश्वरी सेवा सदन के पीछे, चाँदपोल बाजार, जयपुर-1; संस्करणः 2007; पृष्ठः 206; मूल्यः 125/- रुपये।

**राष्ट्रीय अस्मिता और हिन्दी साहित्य,** सदानन्दप्रसाद गुप्त**,** प्रकाशकः नील कमल प्रकाशन, ए-119 आवास विकास कालोनी, शाहपुर, गोरखपुर; संस्करणः 2008; पृष्ठः 96; मूल्यः 100 रुपये।

**आहुति (उपन्यास):** श्रीधर पान्डेय**,** प्रकाशकः नन्द किशोर सिंह, जानकी प्रकाशन, अशोक राजपथ, चौहट्टा, पटना-800004., प्रथम संस्करणः 2008; पृष्ठः 144; मूल्यः 300 रुपये।

**महामनीषी डॉ. हरवंशलाल ओबराय रचनावली खण्डः एक :** संपादकद्वयः गुजंन अग्रवाल एवं राजकुमार उपाध्याय 'मणि', प्रकाशकः साहित्य भारती प्रकाशन, गोपी-कृष्ण पैलेस, भिखना पहाड़ी, पटना-800 004, बिहार; प्रथम संस्करणः 2008; पृष्ठः 202; मूल्यः 200 रुपये।

**हरित रहे वसुंधरा (गीति नाटय)**: किशोरी लाल व्यास 'नीलकंठ', प्रकाशकः डॉ. किशोरी लाल व्यास, एफ-1, रत्ना रेसिडेंसी, महेश्वरी नगर, हब्शीगुड़ा, हैदराबाद-500007.; प्रथम संस्करणः 2008; पृष्ठः 30; मूल्यः 100 रुपये।

## पत्रिकाएँ

**पूर्वग्रह,** साहित्य और कलाओं की अलोचना त्रैमासिकी, अंक 124, जनवरी-मार्च, 2009; प्रधान संपादकः प्रभाकर श्रोत्रिय; प्रकाशकः भारत भवन न्यास, ज. स्वामीनाथन मार्ग, शामला हिल्स, भोपाल-462002; पृष्ठः 156; मूल्यः 30 रुपये।

**वर्तिका,** पुपरी महोत्सव विशेषांक; समकालीन साहित्य, कला एवं सांस्कृतिक चेतना की पत्रिका, अंकः11 वर्षः 10; संपादकः रामेश्वर पाण्डेय 'पतंग' द्वारा समता ऑफसेट प्रिन्टर्स, जनकपुर रोड (पुपरी) से मुद्रित कराकर, एवं ग्राम-पोस्टः बघाड़ी, सीतामढ़ी से प्रकाशित; पृष्ठः 148; मूल्यः 20 रुपये।

**पुष्पक-9**, **'कादम्बिनी क्लब, हैदराबाद'** साहित्यिक यात्रा का दसवाँ उद्घोष 2008; प्रधान संपादकः डॉ. अहिल्या मिश्र; प्रकाशकः कादम्बिनी क्लब, हैदराबाद, 93/सी, राजसदन, वेंगलराव नगर, हैदराबाद-500038; पृष्ठः 164; मूल्यः 75 रुपये।

**शब्दयोग,** साहित्य, संस्कृति और कला की त्रैमासिकी पत्रिका; स्त्री लेखन विशेषांक, अंकः1, मार्च 2009; संपादकः सुभाष पंत; प्रकाशक एवं मुद्रकः राजेन्द्र कुमार अग्रवाल द्वारा योगदान संस्था के लिए 922-23, फैज रोड, करोल बाग, दिल्ली-110 005; पृष्ठः 180; मूल्यः 20 रुपये।

**नवलय अनुबोध,** कब आयेगा बंसत हमारे देश में?, वर्षः1 अंकः 11, फरवरी 2009; संपादकः राकेश दुबे; प्रकाशन स्थलः नवलय 54, झोन-2, महाराणा प्रताप नगर, भोपाल-462011; पृष्ठः 32; वार्षिक शुल्कः 100 रुपये।

**व्यंग्य यात्रा,** सार्थक व्यंग्य की रचनात्मक त्रैमासिकी, वर्षः 5 अंकः17 अक्टूबर-दिसंबर 2008; संपादकः प्रेम जनमेजय; प्रकाशकः 73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063; पृष्ठः 192; मूल्यः 20 रुपये।

**आकलन** - 20, कवि भगवत लाल उत्पल स्मृति, अनियतकालिक, मार्च 2009; संपादकः हरजिंदर सिंह सेठी, सम्पर्कः 75/3, गुरु अर्जुन देव मार्ग, मुलुंड कालोनी, मुम्बई-400082; पृष्ठः 32; मूल्यः पांच रुपये।

**पाँचवाँ स्तंभ** सकारात्मक चिंतन एवं विकास की संवाहिका वर्ष-3 अंक-29, मार्च-2009, संपादकः मृदुला सिन्हा, प्रकाशकः श्रीमती मृदुला सिन्हा द्वारा, पी.टी. 62/20 कालकाजी, नई दिल्ली-110 009; पृष्ठः 36; मूल्यः 10/- रु. मात्र।

**विश्वा,** अमेरिका से प्रकाशित, अंतरराष्ट्रीय हिंदी समिति की त्रैमासिक मुख पत्रिका, वर्ष : 25 अंकः1, जनवरी-मार्च 2009, संपादकः रेणु 'राजवंशी' गुप्ता, पृष्ठः 64, वार्षिक मूल्यः ʔ 25 मात्र।

**THE FIFTH PILLAR** Promoting positive ideas and Democratic Values, Volume 1, Issue 1, July-September, 2008, Editor: Mridula Sinha, Published from PT 62/20, DD Block, Kalkaji, New Delhi-110019; pages: 24; Rs. 15/-



*We Strive*
*to Satisfy*
*Our Customers*

**VASUNDHARA MARKETING CO.**

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

*Regd. Office*
**1/3575, Netaji Subhash Marg**
**Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

*Administrative Office*
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

*Regd. Office*
**1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,**
**New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848**



# आस्था भारती, दिल्ली

*अध्यक्ष :* **डॉ. जयन्त माधब**
अर्थशास्त्री, पूर्व निदेशक, एशियन विकास बैंक,
पूर्व अध्यक्ष, पूर्वोत्तर विकास वित्त निगम

*सचिव :* **डॉ. ब्रज बिहारी कुमार**

*कोषाध्यक्ष :* **श्री जे.एन. राय**
भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)
पूर्व आयुक्त, नागरिक उड्डयन सुरक्षा, नयी दिल्ली

*सदस्य, शासी परिषद :*

1. **प्रोफेसर मृणाल मिरी**
   पूर्व कुलपति, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग
2. **प्रोफेसर के. के. नारायण कुरुप**
   पूर्व कुलपति, कालिकट विश्वविद्यालय
3. **प्रोफेसर कमलेश्वर बोरा**
   पूर्व कुलपति, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय
4. **प्रोफेसर अरविन्द कुमार शर्मा**
   पूर्व कुलपति, मिजोरम विश्वविद्यालय
5. **प्रोफेसर व्ही. सूर्यनारायण**
   पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक,
   दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया अध्ययन केन्द्र,
   मद्रास विश्वविद्यालय
6. **श्री प्रकाश सिंह**
   भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)
   पूर्व महानिदेशक, सीमा सुरक्षा बल,
   पूर्व आरक्षी महा निदेशक, उत्तर-प्रदेश, असम
7. **श्री राजेश भार्गव**
   इंजीनियर, व्यवसाय

**Dialogue**
Quarterly English Journal of
Astha Bharati, Delhi

**38 issues published uptil now**

**Special Numbers:**
Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia
Fiscal Mismanagement in North East India
Maoist Insurgency in Nepal and India
India: Security Dimensions,
Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadwip
South-East Asia
Secularism: India in Labyrinth
India's Neighbourhood
Governance in the North-East
Policing in India
India and Central Asia
Population Issues
Naxalism
Indo-Pakistan Relations & Kashmir
Media in India
India's North East
India: Political Culture, Governance & Growth
Understanding India
India: The Internal Security
Education in India
India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
Caste, Community and Social Justice
India's Encounter with the West
India: Security Scene
Kashmir
Bangladesh

**Forthcoming Issue:**
Himalayan Region